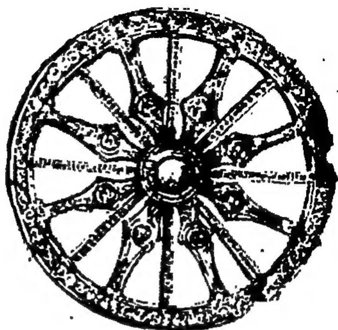


वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

संस्कृति

सनातन है

डा. छगन मोहता

मूल्य : चालीस रुपये

प्रथम संस्करण : 1986

आवरण : तूलिका

प्रकाशक

वाग्देवी प्रकाशन,

सुगन निवास, चन्दन सागर, बीकानेर

द्वारा साँखला प्रिंटर्स, बीकानेर में मुद्रित ।

Sankranti aur Sanatanata (Philosophy) by Dr. Chhagan Mohata.

Price : 40-00

संक्रान्ति में सनातन के अन्वेषी
'अज्ञेय' को निवेदित

अनुक्रम



किसी भी संस्कृति की प्रकृति, स्वरूप और गति का निर्धारण वे आदर्श या मूल्य करते हैं जिन की सिद्धि में ही कोई समाज या व्यक्ति अपने अस्तित्व की सार्थकता का बोध करता है। संस्कृति को इसीलिए मूल्य-दृष्टि कहा जाता है क्योंकि उन सनातन मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया ही सांस्कृतिक प्रक्रिया है। शायद इसी कारण बहुत से विचारक संस्कृति का दायरा सनातन मूल्यों के धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते हैं और उन के अर्जन की सामाजिक-वैयक्तिक प्रक्रिया तथा अन्य जीवनोपयोगी बातों को उस से अलग कर देते हैं। इस तरह की उपयोगिता के क्षेत्र को वे सभ्यता के दायरे में रखते हैं और इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति सिर्फ मानसिक वस्तु रह जाती है और अन्य सारा भौतिक-सामाजिक जीवन सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत समझ लिया जाता है। यह विभाजन विश्लेषण की सुविधा के लिए एक हद तक

उपयोगी हो भी सकता है, लेकिन इसका प्रक्रियागत और आत्यान्तिक महत्त्व नही है। इस विभाजन को आत्यान्तिक मान लेने की वजह से ही इतिहासकार सस्कृति का अध्ययन करते हुए अपने को धर्म-दर्शन, कला और साहित्य तक ही सीमित रखते है और अन्य सारे जीवन को उस के क्षेत्र से बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार सस्कृति का क्षेत्र सिर्फ मानसिक व्यापार तक सीमित रह जाता है और उस का यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता स्थापित नही होता—विचार और आचरण मे एक दुर्निवार असगति विकसित हो जाती है।

अत. सस्कृति के बारे मे किसी भी विचार-विमर्श से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि सस्कृति केवल मूल्य-दृष्टि ही नही, मूल्य-निष्ठा भी है। वह केवल विचार नही, विश्वास और आचरण भी है। चेतना के विकास का अर्थ विचार का ही नही, अनुभूति का विकास भी है। अतः जब तक हमारे बौद्धिक निष्कर्ष और हमारे दैनन्दिन और सहज अनुभव एक नहीं हो जाते तब तक सस्कृति की प्रक्रिया अधूरी रह जाती और इसीलिए अन्तर्विरोधपूर्ण हो जाती है। इसलिए सस्कृति सभ्यता को–बल्कि पूरे जीवन को ही अपने दायरे में ले लेती है। यदि जीवन किन्ही मूल्यो की ओर उन्मुख और उन से अनुप्राणित है तो उस के हर पक्ष मे उन्ही मूल्यो की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। सस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। किसी भी जाति की मूल्य-दृष्टि, उस की आस्थाएँ और विश्वास इस गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन आस्थाओ और विश्वासो का एक चरम और साध्य रूप होता है और दूसरा सापेक्ष और साधनात्मक रूप। इसलिए मैं सस्कृति और सभ्यता मे भेद नही करता और स्वयं को उन विचारो से सहमत पाता हूँ जो सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप मानते हैं। आवश्यक यह है कि इन दोनो रूपो में आन्तरिक और जहाँ तक सम्भव हो बाह्य सगति भी हो और साध्य रूप साधनात्मक रूप में भी बराबर प्रतिबिम्बित होता रहे। हमारी सामाजिक व्यवस्था और आचरण यदि उन सनातन मूल्यों और विश्वासो को प्रतिबिम्बित नही करते जो हमारी संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा हैं तो यही मानना होगा कि संस्कृति एक समग्र स्वरूप ग्रहण नही कर सकी है—बल्कि वह एक द्विभाजित संस्कृति है, जिस का अर्थ होता है कि हमारा मन एक द्विभाजित मन अतः अस्वस्थ मन है। यह द्विभाजन ही सस्कृति मे अन्तर्विरोधो के विकसित होने का कारण बनता है।

संस्कृति मूल्यदृष्टि और मूल्यनिष्ठा होने के साथ-साथ मूल्यों को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है। प्रक्रिया है, अतः कालबद्ध और देशबद्ध है। अतः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया मे विभिन्न भौगोलिक, माननीय और आर्थिक-राजनीतिक कारणो से कई बार अन्तर्विरोध विकसित हो सकते हैं, होते हैं। लेकिन संस्कृति की जीवन्तता या सर्जनशीलता का एक लक्षण यह भी है कि वह निरन्तर अपने अन्तर्विरोधों की पहचान करती रहती है। मनुष्य एक चेतन सत्ता है अतः उस मे यह सामर्थ्य है कि वह इन अन्तर्विरोधों को समझ कर उन का समाहार करने की दिशा सचेष्ट हो सकता है। इस के बिना संस्कृति सड़ने लगती और मर जाती है। संस्कृति जीवन्त होती है, जीवाश्म नही। हम यदि एक जीवित संस्कृति बने रहना चाहते हैं तो हमे देखते रहने होगा कि हम कहाँ और क्यो अपनी मूल प्रेरणाओं से विचलित हुए हैं और कैसे इस द्विभाजन को मिटा सकते हैं। यदि हम ऐसा नही करते हैं—तो हमारे पास अपने को एक संस्कृत समाज कहने का कोई नैतिक औचित्य नही बच रहेगा।

□

'संक्रान्ति और सनातनता' के निबन्ध सनातन दृष्टि और आज के समाज के इस द्विभाजन की पहचान और उस के समाहार की दिशा मे निरन्तर सचेष्ट मनीषा के अध्ययन, चिन्तन और अनुभव से प्रसूत दिशा संकेत हैं। डॉ. छगन मोहता का अर्थ है करुणा, प्रज्ञा और शील की त्रिवेणी। इस त्रिवेणी मे प्रत्यक्ष स्नान का अवसर जिन्हें मिला है उन के तो वह एक अविस्मरणीय अनुभव है ही—लेकिन काफ़ी अर्से से यह महसूस किया जा रहा था कि डॉ. साहब के विचार पुस्तकाकार उपलब्ध होने चाहिए ताकि प्रत्यक्ष सम्पर्क में न आ सकने वाले भी उन से साक्षात्कार कर सकें। जब भी यह बात होती थी तो सभी मित्र सारी जिम्मेदारी मुझ पर छोड़ कर निश्चित हो जाते। लेकिन मेरी मुश्किल यह थी कि डॉ. साहब न तो लिखने के लिए तैयार होते और न सुनियोजित तरह से किसी विषय पर इस तरह बोलने को ही राजी होते कि कोई पुस्तक बन जाय। अन्ततः उन के सुपुत्र और मेरे अनन्य मित्र डॉ. श्रीलाल मोहता ही काम आये। उन्होंने न केवल डॉ. छगन मोहता के कुछ व्याख्यानो के टेप खोज निकाले—इस खोज मे प्रकाशक महोदय की सक्रियता भी महत्वपूर्ण रही—बल्कि उन का लिपिबद्ध रूप मुझे उपलब्ध करवाया। लेकिन डॉक्टर साहब की सहज और सम्प्रेषणीय शैली को बनाये रखते हुए उन्हें पठ्य रूप देना एक बड़ा चुनौती

भरा काम था। मैं महसूस करता हूँ कि शायद यह मेरे जैसे व्यक्ति के बूते का काम था भी नही और इसीलिए कई स्थलो पर लड़खड़ाया भी हूँ। फिर भी मेरी कोशिश इन्हे इस प्रकार प्रस्तुत करने की रही है कि डॉक्टर साहब के बोलने की शैली और सम्प्रेषणीयता खो न जाय। इन व्याख्यानो के सम्पादन के लिए मुझ से अधिक योग्य व्यक्ति की जरूरत थी पर डॉक्टर साहब के स्नेह ने यह गौरव मुझे दिया—इस स्नेह के सम्मुख कृतज्ञता ज्ञापित करने की धृष्टता भी कैसे करूँ ? सम्पादन मे हुई भूलो के लिए क्षमा-याचना करता हुआ उन्हे प्रणाम करता हूँ।

नन्दकिशोर आचार्य

कस्मै देवाय हविषा विधेम

मूल आधार आध्यात्मिक होता है। अध्यात्म में जो शाश्वत
जिसे पेरेनियल फिलॉसफी कहते है—वह सब जगह एक-सी
न बुनियादी मान्यता है कि जो पिण्ड में है मूलतः वही तत्त्व
ौर जो ब्रह्माण्ड में है वही तत्त्व पिण्ड में है। पिण्ड का उदा-
या किसी भी प्राणी का शरीर और ब्रह्माण्ड से मतलब है
इन सारे पिण्डों में से मनुष्य नाम का जो पिण्ड है उस में
कि वह ब्रह्माण्ड के किसी भी स्तर पर अपना 'कम्युनिकेशन'
ा है, उस को जान सकता है, क्योंकि मूलतः दोनों एक से
मष्टि रूप में है, दूसरा उस के अंश के रूप में है।

जिज्ञासा शुरू होती है अहम्, इदम्, और ततम् से। मैं
? और वह क्या है? इदम् के बोध को कहते हैं प्रत्यक्ष
गोचर है वह प्रत्यक्ष है। और इस प्रत्यक्ष के अतिरिक्त
ता है, वह परोक्ष है। इसलिए वह मेरे सामने नहीं है।
मालूम हो सकता है। उस का ब्यौरा मालूम हो सकता
र उस का अनुमान करना पड़ता है। यहाँ पर तर्क काम
ा जैसे-जैसे उस का प्रत्यक्ष का बढ़ता जाता है उसी
न भी बढ़ता जाता है। आज के विज्ञान ने बहुत कुछ
र भी आगे का प्रश्न खड़ा है और वहाँ के लिए फिर
ता है। परोक्ष के लिए अनुमान या कन्सेप्ट बनाने
आधार पर बनने वाले 'कन्सेप्ट' परोक्ष होते हैं और
ाओं-अवधारणाओं से हम फिर प्रत्यक्ष की ओर उस के
ते हैं। तीसरा है अहम्। अहम् न तो सीधा इन्द्रिय
किसी उपकरण की पकड़ में आ जाए और न परोक्ष
लगाना पड़ता है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द है
न हमेशा अपरोक्ष है—'नान-इनडाइरेक्ट' है और यह

सबसे ज्यादा प्रामाणिक अनुभूति है। इसी अनुभूति के आधार पर हमे प्रत्यक्ष का बोध और परोक्ष का अनुमान होता है। इसलिए जितना अप्रत्यक्ष और परोक्ष है, वह अपरोक्ष के लिए है और अपरोक्ष के द्वारा है। अपरोक्ष इनके लिए नही है, इनके द्वारा नही है। यह एक दार्शनिक आधार है। भौतिकवाद मे आमतौर से यह कहा जाता है कि चेतना का प्रस्फुटन होने से पहले जड़ता है या भौतिकता है। यह एक परिणामी चेतना की बात है। अब दार्शनिक आधार यह है कि मूल्य की दृष्टि से चेतना पहले है—'एपिस्टोमोलाजिकल प्रायोरिटी' है उस की। ज्ञान-मीमासा की दृष्टि से चेतना पहले है। ज्ञाता पहले है। सब्जेक्टिव पहले है और जो ऑब्जेक्ट है वह पीछे है; और सब्जेक्ट ध्येय है। जो विषयी है, ज्ञाता है वह ध्येय है और जो ज्ञात है वह उस के लिए साधन है। चेतना स्वय साध्य होती है। जड चेतना के लिए साधन है। जितना जड़ परार्थ है वह परार्थ है, स्वार्थ नही। और चैतन्य स्वार्थ है, वह परार्थ नही है। यह एक बुनियादी मान्यता है।

इसलिए हर जगह यही प्रश्न खडा होता है कि मै क्या हूँ? क्यो हूँ? लेकिन 'आई' को पहले परिभाषित करना पडता है। और यह जगत् क्या है? 'यह' के लिए फिर 'यह' का सन्दर्भ आता है कि 'यह' किस से उत्पन्न होता है, किस मे रहता और विकसित होता है और किस मे विलीन होता है। यह तथ्यो का, घटनाओ का जगत् किस से पैदा होता है किस मे रहता और किस मे लीन होता रहता है। आमतौर पर हम देखते हैं कि सारे आकाश से पैदा होते हैं और आकाश मे रहते और आकाश मे लीन होते हैं। जिस आकाश का यह वर्णन है उसे भूताकाश कहते हैं। हमारे दर्शन मे एक मान्यता है कि भूताकाश के अन्दर एक चित्ताकाश ओतप्रोत है और चित्ताकाश का नाम ही प्रकृति है। उसी का नाम अव्यक्त है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहे तो उसी का नाम 'अनकॉन्शस' है। फ्रायड के बाद मनोविज्ञान मे इसका बहुत विवेचन हुआ है। उन का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति का चेतन मन पूरे मन का एक जरा-सा हिस्सा है। उस के बाद बहुत बडा हिस्सा अचेतन का है। वह उस का वैयक्तिक अचेतन है। वैयक्तिक अचेतन समष्टि अचेतन का एक हिस्सा है। इस समष्टि अचेतन 'यूनिवर्सल अनकॉन्शस' को—हम को, हमारे अचेतन को होश नही क्योंकि अगर होश हो जाय तो अचेतन नही रहता। इस अचेतन मे हमारी तमाम इच्छाएँ, संस्कार, वासनाएँ सब भरी हुई है और वह हमारा व्यक्तिगत अचेतन भी है और उस व्यक्तिगत अचेतन की ओर

गहराई में जातिगत अचेतन भी है जो सारी मानवता का अचेतन है। उस की और गहराई मे प्राणिगत अचेतन भी है जो तमाम प्राणियो का अचेतन है और उस की और गहराई मे सारे विश्व का अचेतन है। उस अचेतन के स्तर पर, उस अव्यक्त के स्तर पर हमारी सारे संसार के साथ एकता है। अब वह अचेतन निरन्तर बदलता रहता है। वह भी तथ्यों का एक हिस्सा है, तथ्यो का एक प्रकार है। यह सब 'सब्जेक्टिव' परिभाषा मे हम कहते हैं। इसी तरह यह जो भूताकाश है इसके अन्दर एक अचेतना का आकाश है। चित्ताकाश उसी को कहते हैं। अचेतनचित् का आकाश योग दर्शन में 'चित्' शब्द हमेशा अचेतन के लिए काम आता है।

इसे थोड़ा और ठीक तरह से समझें। भूगोल मे एक 'लिथो स्फियर' का वर्णन आता है। यह जो पार्थिव 'स्फियर' है यह 'लिथो स्फियर' है–पत्थर-मिट्टी वगैरह का–जिस पर हम रहते हैं। 'लिथो स्फियर' के अन्तर्गत 'हाइड्रोस्फियर' है—जलमण्डल। इस पार्थिव मण्डल से जलमण्डल ओतप्रोत है। अगर जलमण्डल इसमें ओतप्रोत नही होता तो कुएँ खोदने से पानी नही निकलता। लेकिन पानी निकलता है तो यह जमीन के अन्दर भी है और बाहर भी जिसे हम आर्द्रता कहते हैं। यह जलमण्डल है। इस का दायरा व्यापक है। और यह पार्थिव मण्डल में ओतप्रोत भी है। उस से ज्यादा सूक्ष्म है। इस का घेरा उस से ज्यादा है और उस के अन्दर ओतप्रोत है। उस के अन्दर जो ओतप्रोत है या एक और मण्डल है उसे हमें 'एटमोस्फियर' कहते हैं—वायुमण्डल। उस का दायरा बड़ा है। पक्षी वायुमण्डल में एक सीमा तक विचरण कर सकते हैं। मनुष्य भी उस सीमा तक आसानी से साँस ले सकता है। लेकिन एक दूरी के पश्चात् हम मास्क लगाकर ही उस परिवेश मे जा सकते हैं। तो वह एटमोस्फियर जो वायुमण्डल से परे है, और सूक्ष्म है और इस मे ओतप्रोत है, उसे 'इलेक्ट्रोमैगनेटिक एटमोस्फियर' कहते हैं। दार्शनिक शब्दावली मे उसे प्राणमण्डल कहते हैं। ये एक दूसरे के साथ सम्पर्क मे काम आते हैं। टैलीविजन केन्द्र से ध्वनि और चित्र का प्रसारण होता है। ध्वनि और चित्र की तरंगें ऐन्टिना मे टकराकर उस मे स्पन्दन पैदा करती है। 'इलेक्ट्रोमैगनेटिक वैव' मे आकृतियों का, रंगों का और ध्वनियो का अनुवाद होता है और उस को रिसीवर सैट पकडता है। तो वह सारे वायुमण्डल को चीरता है। जलमण्डल को चीरता है। पार्थिवमण्डल को चीरता है। बन्द कमरे को चीर कर के भी 'इलेक्ट्रोमैगनेटिक स्फियर' अपना काम

करता है और सेंट उसे पकड़ लेता है। यहाँ सेंट मे ध्वनि और चित्र फिर अनुवादित हो कर दृश्य और श्रव्य होते हैं। 'इलेक्ट्रोमेगनेटिक स्फियर' एक माध्यम का काम करता है। उसी तरह पार्थिवमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल और प्राणमण्डल—ये सभी माध्यम का काम करते हैं। इस के आगे एक धारणा और है कि यह जो प्राणमण्डल है इस के अन्तर्गत मनोमण्डल ओतप्रोत है और उस का दायरा उस से भी ज्यादा सूक्ष्म है। कहते हैं कि प्रकाश की गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकिण्ड की होती है। लेकिन मनोमण्डल मानसिक स्पन्दनो की गति उस से भी और ज्यादा और तीव्र होती है। अब यह प्रश्न उठता है कि वह कहाँ है ? तो यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है कि यह मनुष्य का पिण्ड एक बहुत बड़ा 'रिसीविंग सेंट' है इसकी 'प्रोपर ट्यूनिंग' हो जाये तो सीधा मनोमण्डल को भी पकड़ा जा सकता है। सार्त्रे ने एक पुस्तक लिखी है 'वर्डस्'। उस मे एक जगह उन्होंने लिखा है कि मनुष्य की किसी भी क्रिया या घटना का सारे ब्रह्माण्ड मे असर पड़ता है और सारी मनुष्य जाति पर तो प्रभाव पड़ता ही है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य आपस मे 'इन्टररिलेटेड' हो गया है। तात्त्विक दृष्टि से हमारा हर विचार 'साइकोस्फियर' तक पहुँचता है और इस मनोमण्डल का जो अव्यक्त भाग है उसे चित्ताकाश कहते हैं। यह चित्ताकाश भूताकाश मे ओतप्रोत है। भूताकाश मे स्पन्दन होते हैं और चित्ताकाश मे स्फुरण होते हैं। भूताकाश मे चित्ताकाश के ओतप्रोत होने का मतलब है कि स्थूल आकाश के अन्दर सूक्ष्म ओतप्रोत है। इन दोनो का भी एक आधार है जिसे चिद् आकाश कहते हैं। चिद् आकाश मूल्यो का भण्डार है। उस मे कोई भी परिवर्तन नही होता। और मूल्य हमेशा शाश्वत हैं। उन मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। यह पूर्ण है, चैतन्य है। उसी को आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म कहते हैं। दर्शन मे उसी को 'रियलिटी' कहते है। बाकी जितने हैं वह 'एक्चुअलिटी' या 'इवेन्चुअलिटी' है, 'रियलिटी' नही। 'इवेन्चुअलिटी' या 'एक्चुअलिटी' की पृष्ठभूमि मे 'रियलिटी' है। और 'रियलिटी' 'एक्चुअलिटी' से प्रतिबिम्बित होती है, उसे निरन्तर प्रभावित करती रहती है। इसलिए 'एक्चुअलिटी' 'मोरेलिटी' परस्पर सापेक्षिक है। इस सापेक्षिकता मे 'एब्स्योल्यूट' या निरपेक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं। मूल्य अपने आप मे अखण्ड होते हैं। सत्ता अखण्ड है, चेतना अखण्ड है, आनन्द अखण्ड है। 'रियलिटी' की परिभाषा नही हो सकती। कामचलाऊ वर्णन

होता है। वाणी से कहा नहीं जा सकता। धारणा उस की बन नहीं सकती। फिर भी जैसा कि तुलसीदास कहते हैं "तदपि कहे बिन रहा न कोई"। कुछ बात पल्ले डालने के लिए इशारे करते हैं। तो रियलिटी के लिए इस तरह से कुछ इशारे हो सकते हैं। उन मे एक है सत्ता या सत्। सत् या सत्ता का अर्थ है जो हमेशा 'है', 'था', और 'रहेगा'। यह भी काल की भाषा है जबकि 'रियलिटी' को कालातीत कहते हैं। क्योंकि काल की वहाँ गति नहीं होती। दूसरा है चित्। इसीलिए उसे चिदाकाश कहते हैं। चित् का अर्थ है वह तत्त्व जो अपने को और अपने से अन्य को जानता है। और जो अचित् है वह जड़ न अपने को जानता है और न अन्य को। तो पहला लक्षण है सत्, दूसरा चित् और तीसरा है आनन्द। आनन्द सुख नहीं है। इसे थोडा समझ लें। कई बार हम उलझ जाते हैं इन दोनों मे। न्यायशास्त्र ने परिभाषा दी है, "अनुकूल वेदनीयं सुखम् प्रतिकूल वेदनीयं दु.खम्।" अनुकूल और प्रतिकूल का अर्थ यही है कि हमारी इन्द्रियों के स्पन्दनो से अगर मेल है तो अनुकूल, नहीं तो प्रतिकूल। इसी को सुख और दु.ख कहते हैं। लेकिन चित् की एक ऐसी अवस्था है जहाँ बाहर के संवेदन नहीं है, जहाँ न अनुकूलता है और न प्रतिकूलता, उस को हम क्या कहेंगे? सुख और दुःख दोनों नहीं है फिर भी आनन्द आता है। उदाहरण के रूप में गहरी नीद न तो सुखदायक है और न दुःखदायक है पर आनन्द है। वह एक आनन्द की अनुभूति तो है पर उस मे होश नहीं है इतना ही फर्क है। आनन्द की अनुभूति तो है हमे—सुख और दु.ख दोनो से निर्द्वन्द्व अनुभूति है—पर होश नहीं है। आनन्द को करीब-करीब नजदीक से समझने का यह उदाहरण है क्योंकि जब हम होश में आते हैं तो कहते हैं कि बड़े मजे की नीद आई। यह आनन्द की अनुभूति की अभिव्यंजना है। तो 'रियलिटी' के लिए ऐसा कहा जाता है कि यह सद्-चित्-आनन्द है। इस के वर्णन के लिए दो बातें और कही जाती है—एक तो यह कि 'रियलिटी' अद्वितीय है। कोई दूसरी 'रियलिटी' नहीं। और ये तमाम धर्मों के संस्थापको के मुँह से निकली हुई उक्ति है। वेद मे है "एकम् एव अद्वितीयम्" वह एक ही सत्ता है। कुरान में भी कहा गया है कि "अल्लाह के अलावा और कोई नहीं है।" इसलिए रियलिटी एक है और अपने आप में पूर्ण है। इसलिए उसे अद्वितीय कहा जाता है। और दूसरी है उस की स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि कोई भी चीज उस के लिए बाधक नहीं हो सकती—यह अबाध है। बाधा या तो देश की होती है या काल की या

वस्तु की। यह चिदाकाश नित्य मुक्त है। यह बुनियादी मूल्य है—पूर्ण और बुनियादी जिसे आध्यात्मिक मूल्य कहते हैं।

अब हर प्राणी को देख लीजिए कि वह क्या करता है। पहली बात है सत्ता। प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। फिर चित्त है। हर प्राणी जानना चाहता है। तीसरी चीज है आनन्द। प्रत्येक प्राणी आनन्द की अनुभूति करना चाहता है। भोग के चरम बिन्दु के समय मन थोड़े से क्षण के लिए स्थिर होता है और उस स्थिरता मे रियलिटी (परम तत्त्व) रिफलेक्ट कर जाती है क्योंकि परम तत्त्व सार्वभौम है इसलिए हमारे चित्त के अन्दर भी है। तो हमारा चित्त हर वक्त दो अवस्थाओ मे रहता है। एक है चचल या क्षिप्त अवस्था और दूसरी है मूढ़ अवस्था। मूढ अवस्था मे होश नही होता है और क्षिप्त अवस्था चचल होती है। चित्त की अवस्था जिस वक्त शान्त होती है और किसी तरह की चचलता से आवृत नही होती या मूढता नही होती, बेहोशी नही होती, उस क्षण मे 'रियलिटी' प्रतिबिम्बित हो जाती है। मूल्य जीवन की सत्ता है। वह प्रत्येक व्यक्ति मे मौजूद है और जिजीविषा के रूप मे प्रस्फुटित होती है। चेतना हर वक्त 'अवेयरनेस' के रूप मे, बोध के रूप मे प्रस्फुटित होती है और आनन्द के रूप मे प्रस्फुटित होती है। चौथी बात है जिसे हम अद्वितीयता कहते हैं। अद्वितीयता सार्वभौम है। और कोई चेतना दो नही हो सकती। वह एक ही और पूर्ण होती है। जड़ता में विभाजन हो सकते हैं। नाम रूप के सब विभाजन अनेक हो सकते हैं, बदलते रहते हैं, आपस मे सम्बद्ध हो सकते है। चेतना एक है और स्थिर है। चिदाकाश 'एब्सोल्यूट' है। उस से परे कुछ नही है। वेद की भाषा में उसे परम व्योम कहते हैं और उसी को परमधाम कहते हैं। वह सब का 'एबोड' है—तमाम मूल्यों का। यह अद्वितीयता प्रत्येक व्यक्ति मे प्रतिबिम्बित होती है और हर एक को महसूस होती है। राजस्थानी मे एक कहावत है; "म्हने घड़गी जिकी वाड़ मे बड़गी"। मैं तो मैं ही हूँ, मेरे जैसा दूसरा कोई नही है और भविष्य मे हो नही सकता। प्रत्येक मनुष्य में जो अद्वितीयता है उसे वह तरह-तरह से जाहिर करता है। अपनी 'स्टाइल' से। लिखने की स्टाइल से, बोलने की स्टाइल से, चलने की स्टाइल से, पहनने की स्टाइल से उस मे प्रत्येक मे अद्वितीयता है। तो व्यक्ति मे अद्वितीयता है और मूल्यो मे सार्वभौमता है। एक ही चीज के ये दो पहलू हैं। एक उस का आधार है और दूसरी उस की व्यंजना। पाँचवीं चीज है उस की स्वतन्त्रता—अबाध। मनुष्य मे आकर यह

मूल्य व्यक्त हुआ है कि वह बाधाओं को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वे बाधाएँ चाहे राजनैतिक हों या आर्थिक या सामाजिक–सांस्कृतिक। किसी भी तरह की हों। उन बाधाओं को वह अपनी सत्ता और चेतना के व्यक्त होने में अवरोध समझता है और इसलिए उन का विरोध करता है। इसलिए स्वतन्त्रता उस के लिए सबसे बड़ी मूल्यवान चीज है। जितनी मानवीय चेतना विकसित है, मूल्यों का जितना मनुष्य में बोध है, उतना वह बाधाओं से झुंझलायेगा और उन को तोड़ेगा, उन का निराकरण करने की कोशिश करेगा ताकि उस में निहित सार्वभौम मूल्यों का स्रोत अधिक से अधिक व्यक्त और व्यंजित हो सके। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है कि व्यक्ति में सार्वभौम मूल्यों की सिद्धि हो। मनुष्य के जीवन में ही इसे उपलब्ध किया जा सकता है। अन्य किसी योनि में इसे उपलब्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य ही सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है क्योंकि उसका 'ऐसेंस' या सार मूल्य है। 'तत्वमसि' उसी के लिए कहा जाता है। तत् का अर्थ है 'दैट'। 'आई' 'दिस' और 'दैट' अर्थात 'मैं', 'यह' और 'वह'। 'वह' के लिए कहा जाता है कि वह 'सत' 'चित्' और 'आनन्द' है, अद्वितीय है और अबाध स्वतन्त्र है। इसे हम परमात्मा कह दें, खुदा कह दें 'गॉड' कह दें या 'रियलिटी' — परम तत्त्व कह दें लेकिन अब यह 'वह' प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता पर उस की अपरोक्ष अनुभूति हो सकती है। सो अपरोक्ष हमारे स्वयं का 'आईनेस' है। 'मैं हूँ' यह बोध हमेशा अपरोक्ष है। इस अपरोक्ष को और गहरा और विस्तृत करके 'वह' को अपने अन्दर अनुभव किया जा सकता है। खुदी अलग-अलग हो सकती है लेकिन खुदा अलग-अलग नहीं हो सकता। और खुदा ही व्यक्ति या विशिष्ट में प्रतिबिम्बित होता है तो खुदी का अस्तित्व बनता है।

मूल्यों के क्रम में यह एक बुनियाद है। समाज–निर्माण में इसका आधार बनता है तो उसका स्थायित्व होता है। इस के आधार पर समाज निर्माण के व्यावहारिक पक्ष पर विचार किया जा सकता है। व्यावहारिक पक्ष में एक है आर्थिक पक्ष और दूसरा है राजनीतिक पक्ष। राजनीतिक पक्ष में आदर्श व्यवस्था उसे कहा जाता है जो कम से कम शासन करे। मनुष्य कम से कम शासन पसन्द करता है। अगर शासन अधिक से अधिक होता है, शासन अपने हाथ में अधिक से अधिक चीजों का विधि और निषेध लेता है तो व्यक्ति की महिमा, गरिमा और आजादी ही खत्म नहीं होती, व्यक्ति की कृति की क्षमता भी खत्म हो जाती है और अधिक से अधिक निर्भरता राज्य की तरफ

वस्तु की। यह चिदाकाश नित्य मुक्त है। यह बुनियादी मूल्य है—पूर्ण और बुनियादी जिसे आध्यात्मिक मूल्य कहते हैं।

अब हर प्राणी को देख लीजिए कि वह क्या करता है। पहली बात है सत्ता। प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। फिर चित्त है। हर प्राणी जानना चाहता है। तीसरी चीज है आनन्द। प्रत्येक प्राणी आनन्द की अनुभूति करना चाहता है। भोग के चरम बिन्दु के समय मन थोड़े से क्षण के लिए स्थिर होता है और उस स्थिरता में रियलिटी (परम तत्त्व) रिफलेक्ट कर जाती है क्योंकि परम तत्त्व सार्वभौम है इसलिए हमारे चित्त के अन्दर भी है। तो हमारा चित्त हर वक्त दो अवस्थाओं में रहता है। एक है चचल या क्षिप्त अवस्था और दूसरी है मूढ़ अवस्था। मूढ़ अवस्था में होश नहीं होता है और क्षिप्त अवस्था चचल होती है। चित्त की अवस्था जिस वक्त शान्त होती है और किसी तरह की चचलता से आवृत नहीं होती या मूढ़ता नहीं होती, बेहोशी नहीं होती, उस क्षण में 'रियलिटी' प्रतिबिम्बित हो जाती है। मूल्य जीवन की सत्ता है। वह प्रत्येक व्यक्ति में मौजूद है और जिजीविषा के रूप में प्रस्फुटित होती है। चेतना हर वक्त 'अवेयरनेस' के रूप में, बोध के रूप में प्रस्फुटित होती है और आनन्द के रूप में प्रस्फुटित होती है। चौथी बात है जिसे हम अद्वितीयता कहते हैं। अद्वितीयता सार्वभौम है। और कोई चेतना दो नहीं हो सकती। वह एक ही और पूर्ण होती है। जड़ता में विभाजन हो सकते हैं। नाम रूप के सब विभाजन अनेक हो सकते हैं, बदलते रहते हैं, आपस में सम्बद्ध हो सकते हैं। चेतना एक है और स्थिर है। चिदाकाश 'एब्सोल्यूट' है। उस से परे कुछ नहीं है। वेद की भाषा में उसे परम व्योम कहते हैं और उसी को परमधाम कहते हैं। वह सब का 'एबोड' है—तमाम मूल्यों का। यह अद्वितीयता प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिबिम्बित होती है और हर एक को महसूस होती है। राजस्थानी में एक कहावत है; "म्हने घड़गी जिकी बाड में बड़गी"। मैं तो मैं ही हूँ, मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है और भविष्य में हो नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य में जो अद्वितीयता है उसे वह तरह-तरह से जाहिर करता है। अपनी 'स्टाइल' से। लिखने की स्टाइल से, बोलने की स्टाइल से, चलने की स्टाइल से, पहनने की स्टाइल से उस में प्रत्येक में अद्वितीयता है। तो व्यक्ति में अद्वितीयता है और मूल्यों में सार्वभौमता है। एक ही चीज के ये दो पहलू है। एक उस का आधार है और दूसरी उस की व्यंजना। पाँचवी चीज है उस की स्वतन्त्रता—अबाध। मनुष्य में जाकर यह

मूल्य व्यक्त हुआ है कि वह बाधाओं को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वे बाधाएँ चाहे राजनैतिक हो या आर्थिक या सामाजिक–सांस्कृतिक। किसी भी तरह की हो। उन बाधाओं को वह अपनी सत्ता और चेतना के व्यक्त होने में अवरोध समझता है और इसलिए उन का विरोध करता है। इसलिए स्वतन्त्रता उस के लिए सबसे बड़ी मूल्यवान चीज है। जितनी मानवीय चेतना विकसित है, मूल्यो का जितना मनुष्य मे बोध है, उतना वह बाधाओं से झुंझलायेगा और उन को तोडेगा, उन का निराकरण करने की कोशिश करेगा ताकि उस मे निहित सार्वभौम मूल्यो का स्रोत अधिक से अधिक व्यक्त और व्यंजित हो सके। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है कि व्यक्ति मे सार्वभौम मूल्यो की सिद्धि हो। मनुष्य के जीवन मे ही इसे उपलब्ध किया जा सकता है। अन्य किसी योनि मे इसे उपलब्ध नही किया जा सकता क्योंकि मनुष्य ही सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है क्योंकि उस का 'ऐसेंस' या सार मूल्य है। 'तत्वमसि' उसी के लिए कहा जाता है। तत् का अर्थ है 'देट'। 'आई' 'दिस' और 'दैट' अर्थात 'मैं', 'यह' और 'वह'। 'वह' के लिए कहा जाता है कि वह 'सत' 'चित्' और 'आनन्द' है, अद्वितीय है और अबाध स्वतन्त्र है। इसे हम परमात्मा कह दें, खुदा कह दें 'गॉड' कह दें या 'रियलिटी — परम तत्व कह दें लेकिन अब यह 'वह' प्रत्यक्ष तो नही हो सकता पर उस की अपरोक्ष अनुभूति हो सकती है। तो अपरोक्ष हमारे स्वयं का 'आईनेस' है। 'मैं हूँ' यह बोध हमेशा अपरोक्ष है। इस अपरोक्ष को और गहरा और विस्तृत करके 'वह' को अपने अन्दर अनुभव किया जा सकता है। खुदी अलग-अलग हो सकती है लेकिन खुदा अलग-अलग नही हो सकता। और खुदा ही व्यक्ति या विशिष्ट मे प्रतिबिम्बित होता है तो खुदी का अस्तित्व बनता है।

मूल्यो के क्रम मे यह एक बुनियाद है। समाज–निर्माण मे इसका आधार बनता है तो उसका स्थायित्व होता है। इस के आधार पर समाज निर्माण के व्यावहारिक पक्ष पर विचार किया जा सकता है। व्यावहारिक पक्ष मे एक है आर्थिक पक्ष और दूसरा है राजनीतिक पक्ष। राजनीतिक पक्ष में आदर्श व्यवस्था उसे कहा जाता है जो कम से कम शासन करे। मनुष्य कम से कम शासन पसन्द करता है। अगर शासन अधिक से अधिक होता है, शासन अपने हाथ मे अधिक से अधिक चीज़ों का विधि और निषेध लेता है तो व्यक्ति की महिमा, गरिमा और आजादी ही खत्म नही होती, व्यक्ति की कृति की क्षमता भी खत्म हो जाती है और अधिक से अधिक नियंत्रण राज्य की तरफ

पराङ् मुखता बढ़ती जाती है। प्रत्येक क्षेत्र में निर्भरता बढ़ती जाती है और आदमी की सृजनात्मकता समाप्त होती जाती है, उसकी क्षमताएँ खत्म होती जाती है। राज्य के सन्दर्भ में आदर्श यही है कि कम से कम शासन होना चाहिए। कम से कम शासन होना चाहिए और अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है स्वायत्तता का विकेन्द्रीकरण। तो बहुत सारी बातों में हम स्वायत्त और आत्मनिर्भर हों और राज्य का काम है कि वह इस की रखवाली करे कि इस स्वायत्तता का ठीक उपयोग हो रहा है या नहीं। एक दूसरे के टकराव में नहीं आयें टकराव में आयें तो उस का निर्णय करना और उस की व्यवस्था कर देना राज्य का कर्तव्य है। अच्छा आदर्श राज्य वही माना जाता है जिस में थोड़े से थोड़े कानून हों और पालन ठीक विधि से किया जाए इसके लिए जो सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था होती है वह है संघीय व्यवस्था। भारतवर्ष में यह अधकचरी-सी है इसका पहला कदम है अधिक से अधिक प्रान्तीय स्वायतत्ता। प्रान्तीय स्वायतत्ता से नीचे उतरें तो 'लोकल सेल्फ गवरन्मेन्ट' की स्वायतत्ता, प्रत्येक जिले की स्वायतत्ता जिले से उतर कर नगर और तहसील की स्वायतत्ता। लोकतन्त्र का सिद्धान्त तो यह है कि शासन जनता के द्वारा, जनता के लिए और जनता का हो। जनता आपस में परिचित हो तो वह श्रेष्ठ शासन होगा। और जितना अपरिचय होगा उतना ही वह प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता जायेगा। और जितना अप्रत्यक्ष होता जायेगा उतना ही लगाव नहीं रहेगा। एक एम एन राय का 'कन्सेप्ट' था और गान्धी की संविधान की एक रूपरेखा थी उस में भी यही कन्सेप्ट था कि ज्यादा से ज्यादा स्वायतत्ता दी जाये और इस में मनुष्य की सुरक्षा और स्वतन्त्रता हो और आवश्यकता, अनुकूलता, चिकित्सा और शिक्षा के साधनों की प्रत्येक को गारन्टी हो। अन्यथा नौकरशाही ज्यादा से ज्यादा हावी होती जायेगी। जितना केन्द्रीकरण होगा उतनी ही नौकरशाही हावी होगी। नौकरशाही एक अजीब-सी नस्ल है। मशीन और मनुष्य के समागम से एक प्राणी पैदा हुआ है जो नौकरशाह है। जिस का शरीर मनुष्य का है पर भेजा मशीन की तरह काम करता है और मशीन की तरह जिस का भेजा काम करता है उसमें संवेदनशीलता और मूल्य नाम की कोई चीज नहीं होती। उस में गणित और अकारादि क्रम होता है। सारी नौकरशाही इसी आधार पर होती है।

हम पहले यह मानते रहे हैं कि यह ब्रह्माण्ड एक सजीव व्यक्तित्व है और इस

व्यक्तित्व के हम भी हिस्से है। लेकिन उस के बाद उन्नीसवी शताब्दी में भौतिकवाद ने यह स्थापना रखी कि यह जो 'सोलर सिस्टम' है वह एक मशीन है जिस का सूर्य एक आग का गोला है और इस मे प्राण नाम की कोई चीज नही है। वे ऐसा मानते थे कि चेतना और मन नाम की कोई चीज नहीं है। 'ऐपेरेन्टली' नहीं है, बिल्कुल ठीक है। ऐपेरेन्टली आप के शरीर को छू कर यह नही कहा जा सकता कि आप के अन्दर मन भी है क्योंकि वह 'आब्जेक्टिव' नही है, इन्द्रियगोचर नही है। यह सारा मशीन की तरह व्यवहार है। मशीन की तरह व्यवहार है इस में तो कोई शक नही लेकिन यह जो 'मैकेनिकल' पर जोर दिया जा रहा है इसे समझने की जरूरत है। ऊपर से आप लाल स्याही से भरा हुआ एक घड़ा फेंक दें तो पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण खीचेगा उसे। घड़ा फूटेगा और फूट कर लाल चकत्ता हो जायेगा। और यदि ऊपर से एक आदमी को फेंक दें तो वह भी 'मैकेनिकली' ही गिरेगा और शरीर फूटेगा और लाल खून बिखर जायेगा। लेकिन इस घटना मे और उस घटना मे बहुत फर्क है।

तो यह यान्त्रिक व्याख्या यदि हम ब्रह्माण्ड के लिए करते है तो विश्व दृष्टि यान्त्रिक बन जाती है और विश्व दृष्टि यान्त्रिक बनती है तो जीवन-दृष्टि भी यान्त्रिक बनती है। और फिर समाज दृष्टि भी यान्त्रिक बनती है। और हर संस्था की, प्रतिष्ठान की, दृष्टि भी यान्त्रिक बनती है। अब तो अर्थशास्त्र आदि से लेकर फिजियोलॉजी तक पर भी इसी को लागू किया जाता है। लेकिन मनोविज्ञान मे इस गणितीय और यान्त्रिक दृष्टि को लागू करने मे दिक्कत होती है। वहां फिर चेतन और अवचेतन और 'प्लेजर प्रिंसिपल' और 'लिबिडो' ये सब 'सब्जेक्टिव टर्मिनोलॉजी' है। समग्रता यह है कि वस्तु का एक 'सब्जेक्टिव' पक्ष है और एक 'आब्जेक्टिव' पक्ष है। कोई वस्तु ऐसी नही है जिस का एक पूरा 'आब्जेक्टिव' पक्ष हो जिस का हमे केवल बाहर से ज्ञान हो। इस का एक आन्तरिक पक्ष भी होता है और पूर्व की परम्परा मानती है कि हमे जो दिखाई पड रहा है उसका एक आन्तरिक पक्ष भी है। और वह आन्तरिक पक्ष ही उस की हकीकत या उस की 'रियेलिटी' है। उपनिषद् का एक उदाहरण है कि गुरू के पास शिष्य जाकर कहता है सत्य के लिए कुछ कहिए। कुछ उदाहरण देकर बताइये। गुरू वृक्ष के नीचे बैठे थे। कहा कि एक फल तोडो। वह फल तोड़ता है। तो कहा कि इस फल को टुकड़े-टुकड़े कर दो। वह बिखेर देता है तो बहुत छोटे-छोटे राइयों

की तरह बीज उस मे निकलते हैं। गुरु बोले कि बीज को और तोड़ो और देख कि इस मे क्या दीखता है। कुछ नही दीखता उस में। तो गुरु ने कहा कि यह जो 'कुछ नही' दीखता है उसी 'कुछ नही' मे सारी सम्भावना है। तो हरेक बीज मे उस की 'फ्यूचर डेस्टिनी' का 'ब्ल्यू प्रिंट' होता है। वह आँख से देखने में नही आता लेकिन उस मे सम्भावना है तभी तो वह वृक्ष के रूप मे परिणत होता है। इसे बीजांकुर न्याय कहते हैं। यह बीजांकुर न्याय का तर्क है। सारी सृष्टि के हर अव्यक्त के अन्दर व्यक्त होने की सम्भावना है। हर व्यक्ति मे एक अद्वितीय सम्भावना होती है और यह सम्भावना उस के क्रिया के क्षेत्र मे तो है ही लेकिन हमारी ज्ञान परम्परा कहती है कि हमारे मे हरेक में परम मूल्य का 'रियेलाइजेशन' करने की भी क्षमता है और उस क्षमता मे हम फिर 'सैल्फिशनैस' से परे चले जाते हैं उसे अतिक्रमित कर जाते हैं।

तो आर्थिक पक्ष मे देखें कि आर्थिक क्रिया का मोटिवेशन क्या है? राजनीतिक पक्ष मे देखें कि उस का मोटिवेशन क्या है? हम राजनीतिक क्षेत्र में काम कर सकते हैं, आर्थिक क्षेत्र में काम कर सकते हैं, शिक्षा के क्षेत्र में काम कर सकते हैं, किसी भी क्षेत्र में काम कर सकते हैं, पर समझें कि मोटिव क्या है? दो ही मोटिव हो सकते हैं या तो अपना स्वार्थ सिद्ध करना या परार्थ—दूसरे का स्वार्थ सिद्ध करना। परार्थ क्यो करें? स्वार्थ ही सिद्ध क्यों न करें? लेकिन जहाँ स्वार्थ ही सिद्ध करने में लगेंगे तो जीवन के साधन के लिए भी अकेले कुछ नही कर सकेंगे, कई लोगो का उस में सहयोग चाहिए। सहयोग होगा तो हिस्सेदारी का सवाल खड़ा होगा। और हिस्सेदारी में आप 'स्व' ही 'स्व' को लेंगे तो तकरार होगी, सामजस्य नहीं होगा, एक विषमता होगी, एक टकराहट होगी। तो आम तौर से एक तो स्वार्थ का विचार है और दूसरा विचार है परार्थ का। परार्थ के बगैर न तो परिवार टिकता है और न समाज पर राज्य-सस्था टिक सकती है। इसी तरह से हर व्यक्ति अपने का ही एक मोटिव है स्वार्थ का और दूसरी तरफ हर व्यक्ति परार्थ का ही मोटिव है दूसरे का। 'मोटिव' दूसरा है तो सब की पूर्ति होगी और अपना ही है तो किसी की भी नही होगी। तो ये जो 'मोटिवेशन' है अर्थ-व्यवस्था का या राजनीति का यह 'प्रोफिट मोटिव' है। इसी को लेकर पूँजीवाद की आलोचना करते है कि सारा उत्पादन 'प्रोफिट मोटिव' से—मुनाफे की दृष्टि से किया जाता है। सारी राजनीति पॉवर मोटिव से की जाती है। राजनैतिक पार्टियो की हम इसलिए आलोचना करते हैं कि उन का 'मोटिवेशन पावर'

है—किसी तरह सत्ता में पहुँच जाना। दार्शनिक परम्परा की भाषा में इसे फलाकांक्षा कहते हैं कि कोई भी काम करे तो उस का फल खुद के अनुकूल होना चाहिए।

गीता में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं जिस में कहते हैं यज्ञ के लिए जो कार्य किये जाते हैं वे बन्धन कार्य नहीं होते हैं। हमारी चेतना इस में बँधती नहीं, संकीर्ण नहीं होती है। और जो काम मनोकामना की दृष्टि से, फल की दृष्टि से किये जाते हैं वो हमें बाँधनेवाले, हमारी चेतना को संकीर्ण करने वाले, चेतना को आवृत करने वाले होते हैं। इसके मूल में समाज-रचना का या राजनैतिक व्यवहार का आधार क्या है? गीता का एक श्लोक है—

> यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदम् ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिम् विन्दति मानवः॥

जिस परम चेतना से, जिस 'रियेलिटी' से या सत्ता से इन सारी घटनाओं की, सारे जगत् की, सारे प्राणियों की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं उस चेतना की अपने कार्यों के द्वारा उपासना या अभ्यर्थना ही कर्म है। इस से मनुष्य सिद्धि को उपलब्ध होता है। उस के अन्दर सार्वभौम चेतना की, सार्वभौम ज्ञान की, सार्वभौम प्रेम की, सार्वभौम करुणा की उपलब्धि होती है तो वह उपासना बन जाती है। परम मूल्य या सार्वभौम मूल्य की व्यंजना है। एक व्यक्ति में स्वार्थपरता न होकर उस में एक 'सेक्रीफाइस' होता है। एक है 'लॉ ऑफ एक्सप्लॉइटेशन' और दूसरा है 'लॉ ऑफ सेक्रीफाइस'। 'एक्सप्लॉइटेशन' जबरदस्ती शोषण करता है और 'सेक्रीफाइस' स्वेच्छा-पूर्वक होता है। अर्थ व्यवस्था के दो पक्ष हैं—एक यज्ञ की अर्थ-व्यवस्था, 'सेक्रीफाइस' या बलिदान की, कुर्बानी की अर्थ व्यवस्था और दूसरी बाजारू अर्थव्यवस्था। एक सूत्र है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम' किस देवता की किस विधि से हवि दें जिस से वह प्रसन्न हो? उपनिषदों में सवाल आता है कि देवता कौन है? तब कहा गया है कि दो नासिकाओं के पीछे जो प्राण की शक्ति है वह देवता है। आँखों के पीछे जो शक्ति है वह देवता है, कानों के पीछे जो शक्ति है वह देवता है, मस्तिष्क में सोचने-विचारने की जो शक्ति है वह देवता है। और यह जो परस्पर संभोग से मनुष्य का जो जन्म होता है यह भी प्रजापति की शक्ति है। इस तरह मनुष्य के शरीर में ये सारे देवता हैं। और इन देवताओं के लिए हवि दो, यज्ञ करो, कुर्बानी दो। गीता में कहा गया है कि आप अपने कर्म से यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करो और

देवता आप को प्रसन्न करेंगे। इस तरह एक-दूसरे का पोषण करते हुए इस सामाजिक व्यवस्था या यज्ञ-चक्र को आप चलाये रखें।

यजमानी की प्रथा में यह दृष्टि दिखाई देती है। मैं एक उदाहरण बताता हूँ, बहुत पुराना उदाहरण है— मैं करीब दस बारह साल का था, मेरी बहिन की शादी थी। हम जहाँ रहते थे, उस के निकट कुम्हारों का मोहल्ला था। जहाँ से शादी के वक्त विवाह की वेदी में काम आने वाली मटकियाँ लानी थी। उसे हम 'बे' बोलते हैं। मैं कुम्हार के पास गया तो उस ने कहा कि घर जा कर दादी से कह दो कि शाम तक 'बे' घर पहुँच जाएगी। बीकानेर के पास एक गाँव है नापासर। मेरे सामने वहाँ के एक बड़े सेठ का कर्मचारी आया उस ने कुम्हार से कहा कि विवाह का 'बे' है वह मुझे दे दो। कुम्हार ने कहा कि मेरे पास एक ही सेट है और वह भी मेरे यजमान का है। तो मुनीम ने कहा कि मैं तुम्हें मुँहमाँगी कीमत दूँगा, मुझे सेट चाहिए। कुम्हार ने कहा कि तू ज्यादा पैसा देने वाला आज आया है, मेरा यजमान से पीढ़ियों का सम्बन्ध है। तो यह हमारी आर्थिक व्यवस्था थी। एक दृष्टि थी उस की, एक रिलेशनशिप था, उत्पादक और उपभोक्ता का सीधा सम्बन्ध था। आज कहते हैं कि 'प्रोड्यूसर' और 'कन्ज्यूमर' को कॉपरेटिव पद्धति से जोड़ दो। तो यह पारम्परिक सहकारिता की पद्धति थी जिस में उत्पादक और उपभोक्ता जुड़ा हुआ था। एक दूसरे का पारस्परिक पोषण होता। जितनी चीजें थी वे सीधी सेवा से उपलब्ध थी। लेने वाले और देने वाले के बीच बिचौलिया नही था। और उस समय बाजार की अर्थव्यवस्था को अधर्म और हेय समझा जाता था क्योंकि बाजार की अर्थव्यवस्था का मतलब है 'एक्सचेंज' और 'प्रोफिट'—मुनाफे के लिए चीजों की अदला-बदली। वर्षों तक यह यजमानी प्रथा चलती रही। फिर ये बाजार आ गये और बाजार का महत्व बन गया तो उत्पादक और उपभोक्ता का सम्बन्ध टूट गया। अब आज के युग में यह परम्परा तो समाप्त हुई लेकिन परम्परा के पीछे जो मूल तत्त्व है वह कभी भी समाप्त नही हो सकता। उपभोक्ता में देवता बैठे हुए है और देवताओं के पीछे परमात्मा की शक्ति है इसलिए अन्तिम उपभोक्ता परमात्मा है। उस की सेवा मनुष्यो और अन्य प्राणियो के माध्यम से ही हो सकती है। यह 'पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्' है। जिसे प्यास है उसे पानी दो, जो घास खाने वाला है उसे घास दो, जो अन्न लेने वाला है उसे अन्न दो और चीजों के उत्पादन और उपभोक्ता का एक सीधा सम्बन्ध रखो। हर चीज का

उपभोक्ता हरेक मनुष्य के अन्दर परमात्मा के रूप में, चेतना के रूप मे है और चेतना ही सबसे बडी 'कन्ज्यूमर' है।

इसलिए हमें 'प्रोफिट' के 'मोटिव' को तोडना पड़ेगा, बाजार के सम्बन्ध को तोड़ना पड़ेगा। बाजारू सम्बन्ध मनुष्य और मनुष्य का सम्बन्ध नही होकर वस्तु और वस्तु का सम्बन्ध है और स्वयं मनुष्य भी उस मे खरीद-बिक्री की चीज बन जाता है। इसे अगर 'ह्यूमेनाईज' करना है तो तीन-चार तरीके हैं और सब के सब काम मे लेने वाले हैं। एक तरीका गाँधीजी के ट्रस्टीशिप का है। जब कोई ट्रस्ट कायम करता है तो एक 'एन्डोमेन्ट' करता है। 'एन्डोमेन्ट' का राजस्थानी भाषा में एक बहुत बढिया शब्द है 'ओसीजना'। औरतें देवताओ के लिए कुछ पैसे 'ओसीज' कर रख देती है। या मुझे अमुक दान-धर्म का काम करना है तो उस के लिए कुछ रुपया 'ओसीज' कर रख देता हूँ कि यह उस मन्दिर या अस्पताल या स्कूल में देने हैं। वह एक 'एन्डोमेन्ट' है, अलग रकम है जो निकाल कर रख दी जाती है। पूंजीवाद 'ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी' के जरिये से काम करता है। तो यह एक तरह से 'ओसीजना' है। और उत्पादक वास्तव में वे हैं जो उस में काम करते है। इस लिए एक ट्रस्ट बन जाना चाहिए। उस ट्रस्ट के लाभ उठाने वाले वे भी हो जिन्होने उस में पैसा लगाया है और वे भी हों जो उस का प्रबन्ध करते हैं उसमें मजदूरी करते हैं। तो एक न्यास बन जायेगा और उस न्यास का जो भी लाभ बनेगा उस का समान वितरण कर देंगे तो कोई संघर्ष नही होगा। प्रत्येक उत्पादन के सस्थान को किसी न किसी उपभोक्ता सस्थान से जोडना बहुत आवश्यक है। मौजूदा सहकारिता कानून बहुत दोषपूर्ण है सहकारी समितियो का ढांचा बहुत दोषपूर्ण है, इसलिए इस में ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता है जिस से सहकारी समितियां ताकतवर हो सकें, सक्षम हो सकें और बहुउद्देशीय हो सकें। और उपभोक्ता और उत्पादन के क्षेत्र जुड़ जाएं कि इस क्षेत्र विशेष के लोगो के कपडो की या अन्य चीजों की जरूरत पूरी करने वाली यह सोसाइटी है। एक आदमी का श्रम खरीदकर उस से मुनाफा कमाना शोषण की बुनियाद है। श्रम किसी तरह से खरीदने की वस्तु नही होनी चाहिए। श्रम हिस्सेदारी होना चाहिए क्यो कि यह सिद्धान्त है कि यज्ञ का कर्त्ता उस यज्ञ का फलभोक्ता भी होना चाहिए। इसलिए दूसरे का शोषण बाजारू अर्थव्यवस्था का आधार है। व्यक्ति की अर्थव्यवस्था वहीं हो जहाँ व्यक्ति खुद अपना काम कर रहा है। एक दर्जी

मशीन लिये बैठा है, उस में कोई शोषण नही है। उस के परिवार के चार आदमी बैठे हैं, कोई शोषण नही है। एक माली वाडी लगा कर सब्जी उगाता है, कोई दस मुर्गियाँ रख कर अण्डे बेचता है, वह ठीक है। यह उस की व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था है, पारिवारिक अर्थव्यवस्था है। पर उस के बाद अर्थव्यवस्था या तो ट्रस्ट की हो या सहकारिता की। और सहकारी प्रयास बडे से बड़े हो सकते हैं। हिन्दुस्तान में और अन्यत्र भी—कुछ प्रयोग हुए हैं और वे बहुत कामयाब हुए है। उन में भी जो नाकामयाब होते है या अपर्याप्त होते हैं वह कानून का दोष है जिस से सस्था का ढाँचा दूषित होता है। उस के बाद जो अतिरिक्त बचे उसे अन्य उपयोगी सेवाओ में और विकास में लगा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बेहतर यह होगा कि दूसरे देशों के साथ आप का पारस्परिक उत्पादक और उपभोक्ता सम्बन्ध हो सके। वह भी तो मानवता है और मानवता अन्तर्राष्ट्रीय है। ये राष्ट्रीय सीमाएँ टूटने वाली हैं। ये ज्यादा अर्से तक चलने वाली नही हैं क्यो कि सारी मानवता का 'मैन टू मैन रिलेशनसिप' होगा और आर्थिक व्यवस्था के अन्दर एक मानवीयता आयेगी।

इसके बाद राजनैतिक व्यवस्था बनती है। राजनैतिक व्यवस्था मे जब स्वायत्तता बढती है तो ज्यादा से ज्यादा भागीदारी होती है लेकिन एक वर्ग ऐसा जरूर चाहिए जो इस अर्थ-व्यवस्था और राज-व्यवस्था को निरन्तर मूल्य बोध देता रहे। उस वर्ग से मतलब यह नही है कि वह 'मिडिल क्लास' या 'अपर मिडिल क्लास' का हो। आर्थिक दृष्टि से उस का निश्चय नही होगा। वह कुछ व्यक्तियो का समूह होगा जो ज्यादा से ज्यादा 'नॉनफॉरमल' हो, औपचारिकता जिस मे कम से कम हो, और वह इस तरह का प्रबुद्ध वर्ग हो जिस का चरित्र हर क्षेत्र मे लोगो को प्रभावित कर सके–राजनैतिक क्षेत्र मे भी–क्योकि उस के द्वारा की गई निन्दा बहुत कीमती निन्दा होती है। जिस प्रबुद्ध वर्ग का अपना चरित्र हो, जिस का एक व्यक्तित्व बन जाए उसी का प्रभाव पड़ता है। कबीर सचाई कहने वाला ही नही था, उस की आजीविका मे भी सचाई थी। चरित्र की गिरावट आजीविका की गिरावट होती है। यह देखना होगा कि प्रबुद्ध वर्ग की आजीविका मे चरित्र या नैतिक आधार है या नही। कबीर जुलाहा था, उसकी आजीविका जुलाहा थी। उस ने कविता और विचार नही बेचे। आज का तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग अपनी वाणी की फीस के लिए उस तरह बाजार मे उतरता है जैसे कामॉडिटी बेचने वाले

उतरते हैं। उस से बौद्धिकता का स्तर नही बनता, न नैतिकता का बनता है। किसी जमाने मे ब्राह्मण एक ऐसा वर्ग रहा जो सादगी और गरीबी से रहता था लेकिन सत्ता कॉपती थी उस के चरित्र के प्रभाव से। गान्धी की वाणी में यह करामात थी। गान्धी का चर्खा आत्मनिर्भरता का प्रतीक था कि जितनी मेरी जरूरत है उतना मुझे कमा लेना चाहिए। अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिए अपने श्रम से ईमानदारी की आजीविका से जो जियेगा उस मे 'डिमोर-लाईजेशन' होने की कम सम्भावना होगी। और वह अगर ऐशो-आराम के सपने देखेगा तो उस को 'डिमोरलाईजेशन' करेंगे और फिर प्रबुद्धता मौदा करेगी। आजीविका का क्षेत्र भी 'सेल्फ-रियलाईजेशन' का या मूल्यों के 'रियलाईजेशन' का सब से बड़ा आधार बनता है। गान्धी इसी बात पर सब से ज्यादा जोर देते थे और हमारी आध्यात्मिक परम्परा भी इसी पर जोर देती आयी कि 'मोटिव' क्या है, ध्येय क्या है और इस के बगैर क्रान्ति भी सफल नही हो सकती। 'मोटिव' अगर स्वार्थ है तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था हो वह जहरीली बन जायेगी। सत्ता व्यक्ति के हाथ में ही जायेगी तो वह ज्यादा केन्द्रीकृत होगी और वह ज्यादा से ज्यादा सत्तावान हो जायेगा, ज्यादा से ज्यादा अत्याचारी हो जायेगा। आर्थिक सत्ता ज्यादा से ज्यादा केन्द्रीकृत होगी तो उतनी ही मात्रा मे लोगो का शोषण होगा। लेकिन अगर 'मोटिव' परार्थ का है तो समाज स्वस्थ रह सकता है। मात्र 'पेटर्न ऑफ रिलेशनसिप' बदल जाना ही पर्याप्त नही है। उस के साथ अगर 'मोटिवेशन' फलाकांक्षा का, स्वार्थ का है तो वह उस को भी नष्ट कर देगा। क्रान्ति प्रतिक्रान्ति हो जायेगी। इसलिए आर्थिक ढांचा बदलने से पहले बदलने वाले बदलें और बदलने वालो की नैतिक चेतना बदलें। और चेतना बदलने के लिए कुछ व्यक्ति बदलें जो अपनी कृति से एक आचरण पैदा करें।

'प्रज्ञापरिवृत्त' द्वारा आयोजित "सामाजिक पुनर्रचना के सिद्धान्त" व्याख्यानमाला के अन्तर्गत आमन्त्रित प्रबुद्ध श्रोताओं के समक्ष 1979 में आनन्द निकेतन, बीकानेर में दिये गये भाषण का लिखित संशोधित रूप।

सामाजिक पुनर्रचना के आधार

सामाजिक पुनर्रचना के आधारभूत विचारो के बारे मे बात करने के लिये सवाद का तरीका ही रहता तो मेरी प्रकृति के ज्यादा अनुकूल होता । अपने अपने विचार सभी रखते और इस तरह कुछ मुद्दे और स्पष्ट हो जाते । एक वक्ता अपने विचार रखे और उस के बाद प्रश्न पूछे जायें और वक्ता उस के जवाब दे—ऐसी एक परिपाटी चली आ रही है । उस मे एक व्यवस्था रहती है । मेरे जीवन मे ऐसी व्यवस्था का अभाव है और लिखने का तो सर्वथा ही अभाव है । बोलना अनायास होता है । बातचीत ज्यादा स्वाभाविक मालूम होती है ।

मै अक्सर कहता रहता हूँ कि क्रांति के लिये केवल व्यवस्था और संस्था को बदलना और सस्था तथा व्यवस्था को बदलकर व्यक्तियो और व्यक्तियो अथवा व्यक्ति और सस्था के बीच के सम्बन्धो को बदलना ही पर्याप्त नही होता । व्यवस्था और संस्था को बदलने से पहले हमे प्रचलित मूल्यो का फिर से मूल्याकन करना पडता है । प्रत्येक क्रांति मे इन मूल्यो का पुनर्मूल्यांकन बहुत जरूरी होता है। मूल्यो का पुनर्मूल्याकन ही वैचारिक क्राति या आस्थाओ की क्राति होती है । पुनर्मूल्याकन का मतलब है कि इस से पहले भी कभी उन मूल्यो का बोध रहा है जो विस्मृत हो गये हैं । अब उस बोध को फिर से जगाने की या दुबारा स्थापित करने की आवश्यकता है । मैं यहाँ पर गीता का एक उदाहरण देना चाहूँगा । श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि यह योग है जो मैंने सूर्य से कहा था, सूर्य ने मनु को कहा, मनु ने इक्ष्वाकु से कहा । काल के गाल मे ये विस्मृत हो गया है । इसे मै तुम्हे दुबारा याद दिलाता हूँ । इस से यह ध्वनि निकलती है कि मूल्य शाश्वत है । समय के प्रवाह और घटनाओ के क्रम मे उनका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है ।

पश्चिम मे जो क्राति हुई थी उस से पूर्व उन्ही मूल्यो का पुनर्जागरण हुआ था जो करीब दो हजार वर्ष पूर्व यूनान मे प्रचलित थे । उसी नव बोध से पुनर्मूल्यांकन हो कर स्वतन्त्रता बन्धुत्व और समानता जैसे मूल्यो की स्थापना हुई । इसी-

लिए जो शाश्वत मूल्य है उस मे नया कुछ भी नही है। जयप्रकाश जी ने भी उन्ही शाश्वत मूल्यो की पुनर्स्थापना के लिए लड़ाई लड़ी जिन्हे विस्मृत कर दिया गया था। वे गान्धी जी के बाद दूसरे थे। गान्धीजी ने नया कुछ नही कहा। वे कहा करते थे कि गान्धीवाद नाम की कोई चीज नही है। मैंने उन्हे न केवल पढा है बल्कि उन्हे सुनने का अवसर भी मिला है। मैं शाश्वत मूल्यो के आधार पर जीना चाहता हूँ और उन्ही मूल्यों का बोध लोगो मे जगाना चाहता हूँ। प्रश्न यह उठता है कि ये शाश्वत मूल्य क्या हैं? लेकिन उस से पहले यह समझ ले कि तथ्यो और मूल्यो मे क्या फर्क है? तथ्य हैं—वस्तुएँ, घटनाएँ, व्यक्ति और समूह ये सब तथ्य हैं। तथ्य इन्द्रिय-गोचर होता है जिस को हम वस्तुगत कहते हैं। सूक्ष्मता या गहराई तक पहुँचने के लिए ऐसे उपकरणो को बनाया जा सकता है जहां पर नगी आंख न पहुँच सके। माईक्रोस्कोप या टेलिस्कोप से तथ्यों को पकड़ा जा सकता है। आंख से देखा जा सकता है, कान से सुना जा सकता है, हाथ मे स्पर्श किया जा सकता है लेकिन तथ्य निरन्तर बदलते रहते है। कोई भी तथ्य स्थाई नही रहता वह दूसरे तथ्यो से पृथक नही है। कोई भी वस्तु एव घटना दूसरी घटना से जुड़ी रहती है। विज्ञान की जितनी भी खोज है वह तथ्यो और उन के सम्बन्धो के स्वरूप की खोज है। मूल्यो के विषय मे विज्ञान मूलतः तटस्थ है लेकिन विज्ञान मूल्य विरोधी नही है। वह तथ्यो की स्थापना करता है और तथ्यो के सम्बन्ध के आधार पर आने वाले तथ्यों की व्याख्या करता है। मूल्य तथ्यों से भिन्न है। वे इन्द्रिय-गोचर नही होते। मूल्य का बोध होता है, अनुभूति होती है। समग्र व्यक्तित्व को यानि सम्पूर्ण व्यक्ति को मूल्यों की अतीन्द्रीय अपरोक्ष अनुभूति होती है। इसे और अधिक स्पष्ट समझने की जरूरत है।

एक दुनिया है जो तथ्यो की दुनिया है, दूसरी दुनिया है जो मूल्यो की दुनिया है। तथ्य अनेक हैं, बदलते रहते है और परस्पर सम्बद्ध होते हैं। मूल्य भी अनेक हो सकते है। उन को समझने के लिए एक दूसरे से प्रभेद किया जा सकता है लेकिन मूल्य अविभाज्य या पृथक होते हैं और अनेक नहीं होते हैं। अलग-अलग नही होते हैं। मूल्य एक-दूसरे के साथ अंगोअगी रूप से जुड़े होते हैं। मूल्यों में परिवर्तन नही होता है। वे तो शाश्वत होते हैं। मूल्य जब तथ्यो के जगत में प्रतिबिम्बित होते हैं, तो तथ्यों में अर्थ और व्यवस्था और महत्व का बोध उत्पन्न होता है। तथ्यो को एक दिशा मिलती है। ये जो दिशा है वह तथ्यो में मूल्यों की अभिव्यजना है जिन को हम बोलचाल की भाषा में

व्यावहारिक मूल्य कहते हैं। मूल्य अपने आप में व्यावहारिक नही तात्त्विक हैं। तथ्य में जब मूल्यो की अभिव्यजना होती है तो तथ्य महत्वपूर्ण बनते हैं। महत्वपूर्ण बनते ही तथ्यो में एक प्रयोजन आता है, दिशा आती है क्रम और व्यवस्था आ जाती है। जैसे विकास का सिद्धान्त है। विकास में विरोध का सिद्धान्त है। एक गुण है निरन्तर आगे बढता है। ज्यो-ज्यो वह आगे बढता है उस में एक व्यवस्था बनती है। तथ्यो की सरचना सरल से जटिल, स्थूल से सूक्ष्म बनती है और इस में नयी-नयी सवेदनाओ और अनुभूतियो का बोध होता है और व्यजना होती है। मूल्यो का सत्य जब तथ्यो में प्रतिबिम्बित होता है तब वह तथ्य एक ओर व्यवस्था का तथ्य बन जाता है, सत्य बन जाता है। कहते हैं तथ्य पर विज्ञान आधारित है और तथ्यो के क्षेत्र में उस ने मूल्य का रूप ग्रहण कर लिया है। वह घटनाओ के सम्बन्ध की व्याख्या कर देता है। उस का फिर वैज्ञानिक उपयोग होता है।

प्राकृत जगत के अनेक क्षेत्रो में अनवरत विकास होते रहने की अवधारणा को आज प्राय सार्वभौम रूप से स्वीकार कर लिया है। विकास का प्रत्येक सोपान एक नवीन गुण अथवा मूल्य के उत्कर्ष या आरोहण को व्यक्त करता है। यह वह गुण उत्कर्ष प्रकट करता है कि व्यक्त होने से पूर्व वह गुण अव्यक्त रूप से तथ्यात्मक जगत मे अन्तर्निहित था। इस अव्यक्त के व्यक्त होने को ही विकास कहते है। विकास का प्रत्येक सोपान नवोद्भूत मूल्य का नवबोध देता है जैसे यान्त्रिक क्रिया करने वाली जड भौतिक रासायनिक प्रक्रिया मे अन्तर्निहित जीवन तत्त्व जब नवीन सजीव और स्वपरिचालित सघात के रूप मे प्रकट होता है तब हम कहते हैं कि निर्जीव से सजीव का विकास हुआ। ये घटना तथ्यो के आवरणात्मक अवरोध का भेदन करके जीवन नाम के नये मूल्य के प्रकटीकरण अथवा पौराणिक भाषा मे कहे तो मूल्यो की ऊँची दुनिया से तथ्यो की नीची दुनिया मे अवतरण होने का परिचायक है। इस के बाद का जो सगठन है जब जीवाणु और जीवाणु आपस में सजीव घटक बनते हैं और यह मिलते है तब एक सघात बनता है। जिस मे पशुओ और पक्षियो का निर्माण होता है उन में विशेष क्रियाएँ व्यजित होती है। इस के साथ पुनः उत्पादन एक गुण है, अनुभूति दूसरा गुण है और सवेदना विकसित गुण है। सवेदना से सुख-दु ख की अनुभूति का बोध विकसित होता है। यह अन्तर्भूत है। यह सजीव वृक्षादि प्राणियो मे अन्तर्निहित होता है और स्पर्श जन्य क्षोभ के द्वारा अभिव्यक्त होता है। जैसे लाजवती है। स्पर्श करते ही उस की सवेदना

को महसूस किया जा सकता है। लेकिन अन्य जीवों मे, पशु पक्षियो मे इस संवेदना का विकास अधिक हुआ है। इस के बाद हम मनुष्य पर आते हैं। यो मनुष्य में पशु जगत के सभी गुण मौजूद है। 'मैं हूँ' इस का बोध मनुष्य मे सब से अधिक है और यही उस की विशेषता है। अनुमान तो पशु भी लगाते हैं। दूर से किसी को लाठी हाथ मे लिए आते देख उसे लगता है कि यह आदमी उसे पीडा पहुँचायेगा। इसलिए वह घास छोड़ कर भाग जायेगा तो पशु मे अनुमान लगाने की क्षमता है लेकिन 'मैं हूँ' का बोध उसे नही होता। अपने होने का बोध मनुष्य की विशेषता है। 'मैं हूँ' और दूसरों से अन्य हूँ। यह चेतना मनुष्य की ही है। विकास के क्रम मे इस चेतना का उद्घाटन मनुष्य में सब से अधिक हुआ। अगर मूल्यों को सोपान क्रम मे रखा जाये तो सब से बड़ा मूल्य है चेतना। मैं जीवन और चेतना को एक ही समझता हूँ, जो सारे ब्रह्माण्ड मे अन्तर्निहित है और जिस का धीरे-धीरे विकास होता है। इस का विकास होता है तथ्यों के द्वारा और तथ्यो के रूप मे। जब वह विकसित हो जाता है तो मूल्य तथ्यो मे स्थापित हो जाते है। फिर उन मूल्यो के आधार पर मनुष्य का नया व्यवहार बनता है।

अब हम लें वहाँ से जहाँ से सामाजिक समस्याएँ शुरु होती है। मनुष्य को ही लें। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज मे पैदा होता है, समाज मे जिन्दा रहता है और समाज मे ही मरता है। मरने के बाद भी उस की सामाजिकता लम्बे समय तक स्मृति शेष रहती है। जैसे हम आज जयप्रकाश जी की स्मृति को याद करते हैं। मनुष्य जिस समाज का निर्माण करता है वह कुछ मूल्यो पर आधारित होता है। मनुष्य के अतिरिक्त भी समाज है जैसे चीटियों का समाज बहुत व्यवस्थित है। मधुमक्खियो का समाज बहुत ही अनुशासित होता है। लेकिन इस समाज का निर्माण किसी सचेतन मूल्यों के आधार पर नही हुआ है। इसलिये उस मे आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता नही है। अनुशासन बहुत है, सामूहिक सुरक्षा भी बहुत है प्राणों की सहज प्रवृत्ति के रूप मे मनुष्य चाहे कितना भी आदिम या जंगली अवस्था मे क्यो न हो उस के अन्दर अस्मिता की चेतना है और इसी अहं चेतना के कारण वह ऐसे समाज का निर्माण कर सका जो जाग्रत मूल्यो के आधार पर है। यह मूल्यबोध ही समाज की संरचना का आधार हो सकता था। किसी भी समाज की रचना को ले चाहे वह आदिम समाज ही क्यो न हो। चाहे सब कुछ अनायास ही हुआ हो या कम से कम आयास रहा हो, इन मे मूल्यों का बोध अवश्य रहा है।

इन मे सब से प्रमुख है जिजीविषा या भवतृष्णा। प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है, मनुष्य भी जीवित रहना चाहता है। यह मनुष्य और पशु मे साम्य है। मनुष्य पशु से कटा हुआ नही है बल्कि पशुत्व से ही उस का विकास हुआ है। दूसरी बात जिजीविषा के साथ है काम की, कामेषणा की है जिसे फ्रायड ने लिबीडो कहा है। जिजीविषा से व्यक्ति जीवित रहता है और कामेषणा से नस्ल जीवित रहती है। अगर यौन नही हो तो नस्ल की निरन्तरता नही रहती। प्रकृति मे कामेषणा के साथ जो आनन्द का बोध दिया है यह गौण चीज है, द्वितीय स्तर का उद्देश्य है। मूलत यह जैविक है प्राणो का धर्म है। उसके बाद फर्क शुरू होता है। एक पुरानी कहावत है—आहार, निद्रा, भय, मैथुन यह प्राणीमात्र का धर्म है। मनुष्य की विशेषता है उस मे 'धर्म'। धर्म से अभिप्राय यहाँ भिन्न है। हमारे सविधान और शासन कर्त्ताओं ने धर्म और धर्म निरपेक्षता को चला दिया है यह एक बकवास है। उनमे धर्म की समझ ही नही है। वस्तु या व्यक्ति का जो स्वाभाविक गुण है उसे धर्म कहते हैं। अग्नि का स्वाभाविक गुण है जलाना, वह उस का धर्म है। पानी का स्वाभाविक गुण है बहना वह उस का धर्म है। वस्तु-स्वभाव ही धर्म है। चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान हो वास्तव मे वस्तु स्वभाव ही उस का धर्म है। जीवित मनुष्य का स्वभाव एक जैसा होता है जो अन्यथा हो ही नही सकता। धर्म का नाम है स्वाभाविक व्यवस्था जो मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल व्यवस्था हो वही धर्म है। व्यवस्था की दो दिशाएँ हैं। पहली है उस की जिजीविषा की पूर्ति और दूसरी है जाति की अनवरतता की चाह अर्थ और काम दोनो को व्यवस्थित करना पड़ता है। व्यवस्थित होने से तात्पर्य यहाँ यह है कि मनुष्य जिस समाज या सगठन मे रहता है वहाँ उस की इन मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति अगर होती है तो वह व्यवस्था धार्मिक है। अगर सगठन इन आवश्यकताओ की पूर्ति व्यवस्थित तरीके से नही करता है तो वह धर्म के विपरीत है, अधार्मिक है। जिजीविषा की पूर्ति के लिए अर्थ व्यवस्था आवश्यक है। साधनो के द्वारा ही तो मनुष्य जियेगा साधनो का ही उपयोग करेगा। रोटी, कपड़ा और मकान मनुष्य को जीवित रखने के साधन है। उस की अर्थ व्यवस्था को बनाने के लिए एक पूरा पूरा विज्ञान है। जिसे अर्थ शास्त्र का विज्ञान कहा जाता है। दूसरी शाखाएँ कई हो सकती है। लेकिन इन का मूल आधार यही है कि वे मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करें। दूसरी व्यवस्था काम व्यवस्था है। समाज मे जाकर सगठन का रूप लेती है तो यह व्यवस्था विवाह सस्था का रूप

धारण कर लेती है। इस विवाह संस्था के अनेक प्रकार हो सकते है। एक ही प्रकार हो यह आवश्यक नही है। बहुपत्नीक हो सकता है। एक पत्नीक हो सकता है। बहुपतीक या एकपतीक भी हो सकता है। आजीवन या सावधिक सम्बन्ध भी स्त्री पुरुष के बीच हो सकते है। लेकिन किसी न किसी तरह के सम्बन्धो की सुव्यवस्था किसी न किसी रूप मे अवश्य होती है। जैसा कि स्मृतियो मे कहा गया है। लेकिन आधुनिक युग मे परिस्थितियाँ बदल गई है और बदली हुई परिस्थितियो के अनुसार ही सम्बन्धो का निर्माण हो सकता है। शास्त्रो मे सात तरह के विवाह बतलायें गए है और सातो ही जायज माने गए हैं। उन मे ब्राह्म-विवाह, पिशाच-विवाह, राक्षस-विवाह भी है। जबरदस्ती और बलात्कार होने के बाद भी धर्म यह कहता है कि उसे व्यवस्थित करो। सम्बन्धो मे उत्तरदायित्व कायम करो। तो यह पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य या दायित्व, का सम्बन्ध पारस्परिक है। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वह दूसरे के प्रति दायित्व है। इसलिए व्यवस्थित करना धर्म का प्रवृत्ति पक्ष है। दूसरा इस का एक और पक्ष है जिसे निवृत्ति पक्ष कहते है। अर्थ और काम की पूर्ति तथा उसे व्यवस्थित करना यह कुल तीन हुए, चौथा है जिसे हम मोक्ष कहते हैं निर्वाण या मोक्ष। इस शब्द के लिए बहुत मुगालता है। बहुत भयकर मुगालता है। मैं कल ही इण्डियन एक्सप्रेस की एक कटिंग पढ़ रहा रहा था। कुछ दिन पहले स्वामी अग्निवेश ने मार्क्सवाद और आध्यात्मिकवाद पर कुछ लिखा। इस लेख मे उन्होने इन दोनो के बीच मे सामजस्य का प्रयत्न किया था। कुछ अंशों तक ठीक था और कुछ अंशों तक वे उलझे हुए थे। उन के उत्तर में किसी ने लिखा है, इसी चीज को लेकर लिखा है कि यह जो धर्म है, आध्यात्मिकता है, यह तो जन्म-मरण या मोक्ष का मार्ग है। यह सामाजिक कर्म हो सकता है ये समाज की पुनर्रचना का आधार कैसे बन सकता है और मार्क्सवाद तो समाज की व्यवस्था को बदलने की बात करता है। और व्यवस्था बदलने की प्रक्रिया मे वह व्यक्ति को बदलने की बात करता है इस को गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है। मैं कोशिश करूंगा समझाने की। मैं कहाँ तक ठीक हूं यह कह नही सकता।

एक शाश्वत परम्परा है या शाश्वत सिद्धान्त है जो यह मानता है कि यह सारा जगत् एक जड प्रकृति है। मार्क्स की भाषा मे यह सब मैटिरियल है। और जो मैटिरियल है जैसे हमारी पुरानी भाषा मे प्राकृतिक कहते हैं। और

प्रकृति निरन्तर गतिशील है। उस की गति द्वन्द्वात्मक है। यहाँ तक शाश्वत दर्शन मे और मार्क्स मे कोई बुनियादी फर्क नही है। प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक व्यक्ति मे परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। घटना हो, चाहे वस्तु हो, चाहे व्यक्ति हो, चाहे सस्था हो, उस मे परस्पर द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ होती है जो बिल्कुल परस्पर विरोधी हैं। लेकिन परस्पर विरोधी उसी में हैं इसलिए उस में एक एकता भी है। जिसे कहते हैं विरोधाभासों की एकता और उसी के मुताबिक गति होती है। उस गति से नये नये गुण धर्मों का विकास होता है। यह मार्क्स की एक मान्यता है। हमारे यहाँ सांख्य दर्शन मे कपिल की भी ऐसी ही मान्यता है। बल्कि उस से बहत्तर मान्यता है। उस में यह है कि स्थिति और गति मे संघर्ष होते हैं। कपिल की यह मान्यता है कि स्थिति और गति में नये सामजस्य के लिये सघर्ष होता है। स्थिति को कहते है तमस् गति को कहते हैं रजस् और सामंजस्य को कहते हैं सत्व। जैसे ही स्थिति और गति नया सामजस्य ले लेती है तो कुछ अरसे के लिए आपस में सन्तुलित होकर संगति बन जाती है। वह सामजस्य है। इतिहास की व्याख्या भी मार्क्स की कुछ इसी तरह की है। अगर एक व्यवस्था बदलती है तो उस मे परस्पर स्वार्थों की टकराहट होती है, टकराहट होकर संघर्ष होता है, संघर्ष होकर व्यवस्था बदलती है। व्यवस्था बदलने मे यह जरूरी नही है कि सारे व्यक्ति मार दिये जायें। व्यक्तियो का जो सम्बन्धो का स्वरूप है वह बदल जाता है। वह जो स्वार्थों का सघर्ष था उस मे आर्थिक स्वार्थों का परस्पर सामजस्य बैठता है और एक नया स्वरूप बन जाता है। इसी तरह वह एक दासता के समाज या सामन्ती समाज का एक ढाँचा रहा और जब तक यह ढाँचा उस मे रहने वाले व्यक्तियो की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करता रहता है तब तक वह चलता है। और जब कुछ की पूर्ति करता है और कुछ का विरोधी हो जाता है, कुछ की जिजीविषा मे बाधक बन जाता है, कुछ की सम्पत्ति निर्माण की अनुकूलता मे निरन्तर बाधक बन जाता है, कुछ की स्वतन्त्रता मे बाधक बनता है तो उस ढाँचे मे सघर्ष पैदा होता है और नये ढाँचे की माँग होती है।

पुराने ढाँचे को तोडना या उसे खण्डित करना आवश्यक होता है लेकिन वो तोडना या खण्डित करना क्रांति का एक पक्ष है लेकिन उस का दुबारा निर्माण करना यह दूसरा पक्ष है। जिस मे एक नया ढाँचा एक नई संगति बनती है। आज ससार के आकाश मे समाजवाद का नारा गूँज रहा है उस का

मतलब यही है कि अभी जो ढाँचा चल रहा है उस मे अधिकसंख्या की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी नही हो पा रही है। ये प्राणियो की आवश्यकताएँ हैं जो नीचे से नीचे स्तर की बुनियादी आवश्यकतायें हैं। उन की पूर्ति नही होती है इसलिये नया जो ढाँचा हो वह समाजवादी ढाँचा हो। तो वह एक नया सामंजस्य ले लेगी। उस सामंजस्य मे भी अन्तर्विरोध आयेंगे क्योकि वो भी प्रकृति का एक भाग है तो उस से एक बड़े और व्यापक सामजस्य की आवश्यकता होगी। ये एक प्रकृति का नियम है। यहाँ तक जो तीन पुरुषार्थों की बातें कही जाती है जिन के लिए मनुष्य को काम करना चाहिए। अर्थ के लिए काम के लिए, धर्म के लिए। भारतीय चिंतन मे धर्म सब से पहले है। जिस का तात्पर्य है व्यवस्था और व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं अर्थ और काम। अगर व्यवस्था अर्थ और काम की पूर्ति नही करती तो व्यवस्था गलत है। जिसे तोड़ना आवश्यक हो जाता है। जिसे क्रांति या विद्रोह कहते है। जिस से एक नये स्तर पर सामंजस्य हो जाता है। इस नये सामंजस्य के लिए बुनियादी मूल्यो की आवश्यकता होती है, जो जीवन के व्यवहारिक बुनियादी मूल्य हो। वो अर्थ और काम और उन के व्यवहार का सामंजस्य हो यहाँ तक तो ठीक है लेकिन यही पर एक खतरा भी है। वो खतरा यह है कि मनुष्य समाज एक बहुत बढ़िया छावनी बन सकता है या एक बहुत बढ़िया पशुशाला बन सकता है। पशुओ को भी अगर बराबर दानापानी दिया जाय, अच्छी छप्परबन्दी में रखा जाय, समय पर खाना दिया जाए, दवाईयाँ भी दी जाए और पशु धर्म के मुताबिक उन्हें प्रशिक्षित भी किया जाए तो सारी सुविधायें उन के लिए हो सकती है। सब को व्यवस्था, क्रांति संस्कारित करके उन्हें एक ढाँचे में बाँधा जाए तो उन में आत्म निर्णय का वरण नाम की कोई चीज नही रह जाती। उन मे जो स्व का विकास है वह उस व्यवस्था मे नहीं है। वो समूह की एक इकाई बन जाता है अनुशासित इकाई उस का स्वार्थ समूह से न टकराये और समूह का स्वार्थ उस से नही टकराये उस तरह से। ये पशुधर्म तो है लेकिन मानवधर्म नही है। उस का स्वभाव नही है। यही आकर मनुष्य मे फर्क है कि मनुष्य बाहर से थोपे गये अनुशासन को अपने लिए स्वाभाविक नही मानता। कुछ अंश तक वह उसे ग्रहण कर सकता है, और ग्रहण करने के लिये भी उसे समझाना पड़ता है, क्योंकि वह आत्म चेतना पूर्ण है और अपनी सहमति से ही ग्रहण करता है। वह समझता है कि यह एक व्यवस्था है जिस मे उसे चलना है। और जिस के कुछ परिणाम है। मेरे लिए

बुरे परिणाम हो सकते है दूसरे के लिए बुरे परिणाम हो सकते हैं तो इस तरह की व्यवस्थाओ का नाम है विधि और निषेध। कोरा निषेध नही है, कोरी विधि नही है। कोरी वर्जना नही है, कोरी अनुमति नही है। समाज मे जो अभी वैचारिक सघर्ष चलता है, जो साहित्य मे आता है उस का एक पक्ष है वर्जनामात्र से विद्रोह जिसे परमिसिव सोसाइटी कहते हैं टोटली परमिसिव। दूसरी एक है जो नियन्त्रित है। लेकिन समाज हमेशा दोनो से चलता है। दोनो के सन्तुलन से चलता है। एक को हम कहते है शास्त्रीय विधि निषेध या शास्त्रीय मर्यादा यह पुराना शब्द है। दूसरे को कहते हैं लौकिक मर्यादा या लोक मर्यादा। तीसरे को कहते हैं राज्य मर्यादा या कानून। सदाचार के आधार पर लोकाचार बनता है और लोकाचार हमेशा सदाचार हो ऐसा आवश्यक नही है। लोकाचार की स्थापना सदाचार पर होना बहुत आवश्यक है। लेकिन प्रत्येक लोकाचार सदाचार नही होता। सदाचार नही होता तो लोकाचार भी सदाचार का रूप धारण कर लेता है। इसलिए लोकाचार के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ता है। और जितने सुधारको ने विद्रोह किए है राममोहनराय, दयानन्द वगैरह ने वह सब लोकाचार के विरुद्ध सघर्ष था। इसी तरह जो धार्मिक मर्यादा है वो भी अगर मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नही करती तो मनुष्य उस की पुनर्व्याख्या करता है। जैसे ईसाइयत मे बाईबल के शब्द प्रमाण माने जाते थे जिसे मार्टिन लूथर ने चुनौती दी। दयानन्द ने चुनौती दी। राममोहन राय ने चुनौती दी। आधुनिक विचारको ने चुनौती दी। ये जरूरी होता है क्योकि जब बुनियादी पुरुषार्थों की पूर्ति नही होती तो पुरानी व्याख्या को चुनौती देना जरूरी हो जाता है। इसी तरह राज्य मर्यादा शोषको के दमन करने वाले के हित मे भी पड़ सकती है। जहाँ भी समाज मे वर्ग सामजस्य नही होंगे, वर्ग विषमता होती है, स्थिति और परिस्थितियों की विषमता होती है वहाँ पर तीनों बातें होती है दमन, शोषण और अपमान। इसलिए अधिक सख्या उस के खिलाफ विद्रोह करना चाहती है। विद्रोह करके तीनो स्तरों पर जो नई मर्यादा स्थापित होती है वह क्रांति है। नयी मर्यादाओ के लिए फिर आधार की आवश्यकता होती है। वह होते हैं मूल्य, नैतिक मूल्य। नैतिक मूल्यों का आधार होता है आध्यात्मिकता। और आध्यात्मिकता की उपलब्धि का नाम है मोक्ष। ये क्रम है।

अब मैं एक-एक चीज को स्पष्ट बतलाना चाहूँगा। बौद्धो मे इसे पचशील कहते हैं। जैन उसे महाव्रत कहते है। पतजलि ने भी उसे यम या व्रतो के नाम से

कहा है। गान्धी जी भी इसे व्रत के नाम से कहते हैं, उन मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए पाँच व्रत गिनाये जाते है। ये हैं सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रह। यह चीजें अमूर्त नही है। बल्कि इसे मनुष्य और मनुष्य के बीच मे, मनुष्य और संस्था के बीच में एक सम्बन्ध के रूप मे देखना पड़ता है। तो एक मनु का सूत्र है नैतिकता का। आत्मने प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्..। जिस बात को आप अपने लिए प्रतिकूल समझें वैसा व्यवहार दूसरो के साथ न करें। हम चाहते हैं कि हमें कोई धोखा न दें। धोखा देने के लिये दूसरा जब झूठ बोले तभी हम धोखा खायेंगे। तो हमारा भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम भी दूसरों को धोखा न दें। धोखा नही खाना और धोखा नही देना। इसी का नाम सत्य का व्यवहार है। ये सापेक्षिक स्तर पर है निरपेक्ष या परम् स्तर पर नही। समाज के परस्पर के सम्बन्धों मे जब धोखा होता है, तो हम कहते हैं कि मूल्य गिर गये हैं। आज भी स्थिति यही है कि सत्य का कोई मूल्य नही रहा। और गान्धी जी की यही एक विशेषता थी। उस वक्त के अखबारों मे मैंने पढ़ा है, विदेशियो की राय मे कहा गया है कि जो राजनीति, कूटनीति थी और जो बात कमरो मे ही बैठ कर कही जाती थी, कानो मे घुस-पुस होती थी, उस को खुले मैदान मे ले आना गान्धी की करामात थी। खुली राजनीति यानि खुले मैदान की राजनीति। तो सत्य को वह ऐसे क्षेत्र में ले आये जहाँ सत्य का कभी प्रयोग नही होता था। राजनीति के क्षेत्र में तो होता ही नही था। उसे तो छल की नीति ही कहते हैं। दूसरा अहिंसा का है। प्रत्येक व्यक्ति मे जीवित रहने की जिजीविषा है। हम चाहते हैं कि हमे कोई मारे नही। तब हमें दूसरो को भी नही मारना चाहिए। हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि दूसरो की हिंसा न करें और इस से भी आगे सकारात्मक नैतिकता का कर्त्तव्य है। हम हिंसा में सहायक भी नही बनें और न हिंसक की सहायता करें। तीसरा है संयत कामाचार। इस मे कामाचार को आपको कही न कही मर्यादित करना पड़ता है क्योंकि जहाँ पर वह पूर्ण असंयत है वहाँ पर बड़े से बड़े अनैतिक आचरण का जरिया बन जाता है। चौथी बात है अचौर्य। व्यक्ति के स्वयं के परिश्रम से जो पैदा की हुई वस्तु हो, उपार्जित वस्तु हो, उसे वगैर उस की अनुमति के छिपकर नही लेना चाहिए। इस का और आगे विस्तार हो सकता है। पाँचवां है अपरिग्रह। वस्तुओं या सम्पत्ति का इस तरह संचय न करें कि दूसरे इस से वंचित हो जाएँ। मैं दूकान वाला हूँ। किरोसीन आ गया और पचास ढोल छिपाकर रखकर लिए। इसलिए कि चार दिन बाद जब शहर

मे तेजी हो जायेगी तो 20 रुपये का माल 30 रुपये मे बेचूंगा। ये जितनी मुनाफाखोरी होती है, सचयवृत्ति से होती है। अब ये पांचो चीजें परस्पर बुनियाद के लिए हैं। और नैतिकता अगर स्थापित हो तो इन का पालन पारस्परिकता के स्तर पर सामाजिकता के स्तर पर जरूरी है, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और पारिवारिक क्षेत्र मे भी। और इतने तक जरूरी है कि मन से इस के विरुद्ध चितन ही नहीं हो। वाणी से इस के विरुद्ध प्रचार नहीं हो और क्रिया मे तो आए ही नही। बल्कि मैं इसे जैनियो की कहावत की तरह समझता हूँ कि स्वय करना बुरा और दूसरे को उकसाकर करवाना बुरा। और दूसरा कोई कर रहा हो तो उसे प्रशसित करना बुरा।

आज हम बहुत सारी ऐसी चीजो को प्रशंसा देते हैं जो मूल्य विरोधी हैं। इस का मतलब है कि हम समाज विरोधी कार्यों को प्रश्रय दे रहे हैं। उन की तारीफ कर रहे है। उन मे सहयोग कर रहे है। और इस का जो मूल आधार है वह है मूल्यो को न जीना। यहाँ पर थोड़ा हम और सोचें। इतिहास की व्याख्या करते हुए मार्क्स कहता है कि 'मैटर' की 'जडता' प्रथम है और जीवन द्वितीय स्तर पर है और जो चेतन है वह उस से भी बाद के है। जड़ पहले है और उस के बाद जीवित प्राणी है, वनस्पति, पशु वगैरह और उस के बाद है मनुष्य। लेकिन प्राथमिकता के आधार पर मूल्यों का निर्णय पहले है। किसी घटनाक्रम मे कोई चीज पहले हो गयी इसलिए वो मूल्यवान हो गयी ऐसा नही है। वह घटनाक्रम मे पहले है। तथ्यो के हिसाब से पहले है। लेकिन मूल्यो के लिए तो देखना होता है कि साध्य कौन है और साधन क्या है? तथ्य साधन है और मूल्य साध्य है तो तथ्य जहाँ साधन है और मूल्य साध्य है वहाँ पर चेतना से ज्यादा बड़ा कोई और मूल्य नही है। और चेतना की जो प्राथमिकता है वह मूल्यात्मक पूर्वता है। जितनी भी चीजें हैं वह उस मूल्य के लिए, चेतना के लिए है। साख्य मे एक सूत्र है कि प्रकृति का अपना कोई प्रयोजन नही होता। प्रकृति यानि 'मैटर' यानी प्रकृतिगत व्यापारो का अपना कोई प्रयोजन नही होता। वो हमेशा परार्थ है। परार्थ का मतलब जीवन के लिए है, चेतना के लिए है। हम तथ्यो को भोगते हैं, वस्तुओ को, घटनाओ को भी। अनुकूल है तो सुखी होते है और प्रतिकूल है तो दुखी होते है। दुख का बोध भी चेतना को होता है और सुख का भी। चेतना की दृष्टि से मनुष्य सब से अधिक विकसित प्राणी है।

मैं समझता हूँ कि आध्यात्मिक क्रान्ति के विना चाहे तो उसे धार्मिक क्रान्ति कह

सकते हैं, लेकिन धर्म शब्द काफी भ्रम पैदा करने वाला है। अन्य सब क्रान्तियाँ गौण रूप में पत्ते काटने की तरह से होती है। वृक्ष के आप कुछ पत्ते काट दें, कुछ डालियाँ काट दें तो वृक्ष समाप्त नहीं होता। बल्कि कलम हो जायेगी वृक्ष की। वह आसानी से और विस्तार के साथ फैलेगा। लेकिन अगर उस की जड़ को खत्म कर देंगे तो वृक्ष नष्ट हो जायेगा। तो शोषण, दमन और अवमानना की जड़ कहाँ है इसे हमें देखना होगा। जड समूह मे नही होती, संस्था और व्यवस्था मे भी नहीं होती। वे इस का परिणाम हैं— व्यवस्थाएँ मनुष्य अपने प्रयोजन के लिए बनाते हैं। संस्थाएँ भी मनुष्य अपने प्रयोजन के लिये ही बनाता है। उस के नियम या ढांचा या राजनीतिक संगठन आदि सब हमारे अपने प्रयोजन के लिए बनाई हुई संस्थाएँ हैं। अगर संस्था का ढाँचा बदल देना ही सब कुछ है तो हमे अब तक का इतिहास देखना चाहिए। संसार में दो बड़ी क्रान्तियाँ हुई है। एक क्रान्ति ने बहुत लिबर्टी, स्वतन्त्रता दी। फ्रेंच क्रान्ति ने मनुष्यों को लिखने की, बोलने की, संगठन की बहुत बड़ी आजादी दी। मूल उद्देश्य था स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व। स्वतन्त्रता का अर्थ हो गया कि अपनी मेहनत या वस्तु बेचने या खरीदने की आजादी चाहे वह किसी बाजार या किसी मण्डी में क्यो न बेचे। अपनी योग्यता को भी खरीदने और बेचने की आजादी। उस के साथ-साथ लिखने की आज़ादी वगैरह भी जुड़ गये। समानता का तात्पर्य था कानून के सम्मुख समानता। जैसा कानून बना हुआ है, जैसी मर्यादा बनी हुई है उस में समानता हो। और बन्धुत्व यानी भाईचारे नाम की तो कोई चीज़ ही नही रही। बन्धुत्व भावना तो सब से बड़ी बात है। पुरानी भाषा मे इसे आत्मीयता कहते हैं। अपने जैसा ही दूसरे का सुख दुःख समझ कर उस का व्यवहार करना। वह उस मे आज नही है। तो बाजार उस से बहुत बढ गया। चीजों की कीमत बहुत बढ़ गई। आदमी उपभोक्ता हो गया। ये उपभोक्ता एक नया शब्द है—उपभोक्ता समाज मे, मैं समझता हूँ कि अपने यहाँ उपभोक्ता का ठीक अनुवाद नही बैठता। आदमी भोगपरायण ज्यादा हो गया। वस्तुएँ और सुविधाओ के लिये निरंतर उसे भोग के साधन चाहिए। अधिक से अधिक भोग साधन चाहिए, उस को भोगा और नष्ट किया, उस को भोगा और नष्ट किया! यह दुष्चक्र निरन्तर चलता रहता है और लगता है जैसे मनुष्य का लक्ष्य ही अधिक से अधिक उत्पादन की वृद्धि और भोग परायणता हो गया हो। इस से समस्याओ का उलझाव पैदा होता है। फिर ये मण्डी की प्रति-

स्पर्द्धा पैदा होती है। इन प्रतिस्पर्द्धाओ ने विश्व युद्धो को जन्म दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया है। तो एक ढांचा तो बदला लेकिन व्यक्ति तो ऊँचा नही उठा। दूसरा रूस और चीन की क्रांति का था। वहाँ पर कुछ मतभेदो को छोड़ दिया जाय, तो ये मान लेते हैं कि वहाँ पर आदमी की बुनियादी जरूरतें पूरी हो जाती है। फिर भी वहाँ आदमी असतुष्ट क्यो है ? उसे लगता है कि मेरे ऊपर कुछ थोपा हुआ है। वहाँ का लेखक असतुष्ट है और वहाँ से भाग जाता है। जो लेखक नही है वे भी भागते है और अन्यत्र शरण लेते हैं। इस का साफ मतलब यही है कि वह व्यवस्था व्यक्ति के स्वभाव के अनुकूल नही है क्योकि इतना बाहर से थोपा हुआ नियंत्रण है। और नियंत्रण थोपने वाले भी तो व्यक्ति ही है। उस थोपने का सचालन करने वाले हैं वे भी व्यक्ति ही है। सत्ता ज्यादा से ज्यादा उन लोगो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है। वहाँ पर उन की जो स्वाभाविकता है वह किस तरह की है। जहाँ पर मैं आध्यात्मिक क्राति की बात कहता हूँ वहाँ चेतना के स्तर को बदलने की बात कहता हूँ।

कुछ अन्य लोग कहते है कि व्यवस्था को बदल दे और व्यवस्था को बदल ने के बाद जैसे मशीन मे कोई पुर्जा जकड मे या पकड मे आ जाता है उस तरह व्यक्ति भी जकड़ और पकड़ मे आ जाता है। लेकिन इस के साथ ही व्यक्ति उस महायत्र का एक बहुत ही कीमती और उपयोगी पुर्जा बन जाता है। और उस की जो सहज स्वभाविक विशेषता, उस के सृजन की उस के आत्म विकास की, वह इस व्यवस्था मे प्रतिफलित नही होती और अनुशासन थोपा हुआ अनुशासन होता है। एक किस्म की घुटन होती है। क्योकि मनुष्य के जो बहुत सारे आयाम हैं उन मे एक ही आयाम या दो आयामों मे उसे जकड़ दिया जाता है। पर वहाँ जो हरेक व्यक्ति मे बहुआयामी प्रतिभा होती है उन का विकास रुक जाता है। तो मै आध्यात्मिक क्रान्ति की बात करते हुए एक बुनियादी बात की ओर सकेत करना चाहता हूँ। अध्यात्म की गीता मे परिभाषा दी हुई है, 'स्वभावो अध्यात्मउच्यते'। स्व का भाव यानी, मैं का जो भाव है वही अध्यात्म है। अध्यात्म से यहाँ अर्थ कर्मकांड अथवा पूजा पाठ से नही है। यह 'मैं' का भाव मनुष्य के अलावा किसी मे नही है चेतन रूप से। हरेक को लगता है कि 'मैं हूँ'। ये शुद्ध अध्यात्मवाद है और मैं कुछ हूँ यह अध्यात्म को सीमित करता है। 'मैं हूँ' तक तो शुद्ध आध्यात्मिकता है और 'मैं कुछ हूँ' तब मैं किसी अन्य वस्तु के साथ जुड जाता है। जब किसी देह के साथ

जुड़ जाता है तब 'मैं यह हूँ' तो यह आपने अपनी देह के साथ तादात्म्य किया। अब देह की आवश्यकता आपकी आवश्यकता है। देह की आवश्यकता को पूरा करना ही आपका प्रयोजन हो गया। जीवन का प्रयोजन हो गया। उस जीवन का प्रयोजन जितना आपका है 'मैं यह हूँ' का। मैं यह हूँ—दूसरा-दूसरा है, तीसरा तीसरा है। और यहाँ सार्त्र कहता है कि दूसरा नरक है क्योंकि वह मेरे लिए बाधक है। यहाँ से घृणा का जन्म होता है। यहाँ से सत्ता और सम्पत्ति का जन्म होता है। अब मैं कुछ हूँ और मैं यह हूँ, यहाँ इसी को हमारे यहाँ सही अर्थों में कहा जाता है भ्रम, इल्यूजन या माया। तुलसीदास की प्रमाण के रूप में एक चौपाई है 'मैं अरु मोर, तोर तै माया'। मैं और मेरा, तू और तेरा, यह माया है। वह विभाजित करती है। यह विभाजन होता है देह और चेतना में। अध्यात्म जो शुद्ध अध्यात्म है देहाध्यास बनता है। देह ही मनुष्य नहीं है लेकिन देहाध्यास बनता है। विदेह चेतना ही शुद्ध मनुष्य है। इसे शुद्ध अध्यात्म भी कहा जा सकता है, यह विदेह चेतना शाश्वत है, कुछ करती-कराती नहीं सिर्फ साक्षी की तरह होती है। दर्शन की भाषा में इसे साक्षी चेतना कहते है।

वह प्रत्येक मनुष्य के अन्दर है। लेकिन जैसे ही देह के साथ चेतना का तादात्म्य होता है तो उस के स्वार्थ किसी दूसरे के स्वार्थ व दूसरे के स्वार्थ किसी तीसरे के स्वार्थ से भिन्न होते है तो उन स्वार्थों में आपस मे टकराहट होती है। इसे हम कहते है व्यावहारिक मनुष्य। यह व्यावहारिक मनुष्य आपस मे हुई टकराहट के अतिरिक्त क्या हो सकता है। यह पशु में खराबी नहीं है। क्योंकि वह महज अस्मिता मुक्त है। इसलिए वह अपने समूह के साथ समायोजित है भौतिक परिवेश के साथ भी वह समायोजित है। लेकिन मनुष्य का समायोजन टूटा हुआ है। अपने परिवेश से भी खण्डित है और प्रत्येक अन्य से भी खण्डित है। अब उस खण्डित व्यक्ति के हाथ में सत्ता आती है—चाहे वह पैसे की सत्ता हो, समाज की सत्ता हो, पार्टी की सत्ता हो और चाहे वह राज्य की सत्ता हो—तो वह स्वयं साध्य बन जाता है। उस के दैहिक फर्क उस के शरीर की महिमा और गरिमा, उस के गीत, उस की यशोगाथा, उस के धन का संचय ये सारी की सारी चीजें साध्य हो जाती हैं और उस के अनुकूल जो गिरोह है वो उस का 'मैं' का 'मेरा' बन जाता है। और जो मैं और मेरे के अतिरिक्त है, वह तू और तेरा मेरे से अन्य और पराया बन जाता है और आपस में वैमनस्य हो जाता है। तो उस वैमनस्य मे जो

गिरोह बनता है, उस का नाम है वर्ग। अब मजदूरो का एक वर्ग बन गया। कहते हैं कि मजदूरों और मजदूरो के स्वार्थ की एकता है। एक समूह के स्वार्थ दूसरे समूह के स्वार्थ के साथ टकराते है। लेकिन तब एक का 'स्व' दूसरे से क्यो नही टकरायेगा। नेतृत्व मे जो टकराहट होती है वह क्या है? सत्ता आ जाने के बाद जो टकराहट होती है वह क्या है? तो अध्यात्म हमे सही अर्थो मे यह कहता है कि ये जो 'आईनेस' है वह एक बहुत बड़ा भ्रम है। यह भ्रान्ति है यह अलगाव है। मेरा 'आई' दूसरो से, परिवेश से, समाज से, व्यक्तियो से सारो से अलग 'आई' है जो अलगाव की भावना है यही एक बहुत बडी माया है और स्वार्थपरता का बहुत बड़ा केन्द्र है और यही भ्रष्टाचार का केन्द्र है। इस भ्रान्ति से मुक्त होना ही मुक्ति है। देह सारहीन है जितनी देह है वह माँ-बाप से मिली है। पोषण पर्यावरण से मिला है। तो सारा भौतिक परिवेश और प्राणों की शृंखला इस से मिली हुई है। नाम घर वालो ने दिया है, समाज ने स्वीकार किया है। एक लेबुल है। नाम भी दूसरो का दिया हुआ है। पद और प्रतिष्ठा सामाजिक सम्बन्धो का एक ढाँचा है। मार्क्स यहाँ सही है जब वह कहता है कि 'व्यक्ति एक ऐसा काल्पनिक केन्द्र है जिस मे सामाजिक सम्बन्धो की समष्टि प्रतिबिम्बित होती है तो आदमी के सारे सम्बन्ध पदार्थगत हैं।

यहाँ मार्क्स बिल्कुल ठीक है। हम इसे प्राकृतिक कहते हैं। अब इस मेटीरियल के साथ जो 'मैं' का तादात्म्य है वह झूठा है। कोई भी मेटीरियल 'मैं' नही हो सकता। बुद्ध का सारा विश्लेषण है कि जो अनित्य है और जो मेटीरियल है और जो परिवर्तनशील है वह 'मैं' कैसे हो सकता है। 'मैं' जो है वह चेतना है और सारे परिवर्तन का द्रष्टा और साक्षी है। जब मैं साक्षी या द्रष्टा है तो उस का किसी मे स्वार्थ हो ही नही सकता। जिस का स्वार्थ हो सकता है वह 'नोन आई' का हो सकता है और 'नोन आई' मेटीरियल है जो एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। कही भी यह एक दूसरे से कटा हुआ नही है। जैसे समुद्र की तरगे एक दूसरे से कटी हुई नही होती। तरंगे बुलबुलो से अलग नही होती। ठीक उसी तरह से विश्व की तमाम घटनाएँ, व्यक्ति, वस्तुएँ, समूह, ये सब एक बहुत बडा संघात है। उस संघात मे एक दूसरे से कटे हुए नही हैं। उस का एक हिस्सा टुकडे की तरह हम झपट कर, तोड़ कर अपनी देह के हिस्से को और उस से पृथक कर के सिर्फ मानसिक या मनोवैज्ञानिक रूप से पृथक कर के मैं, मैं, मैं करते हैं। अगर इस से हम लिबरेट नही होते है। हमारी चेतना स्वतन्त्र नही होती है तो

हमारी स्वार्थपरता नहीं जा सकती। और अगर स्वार्थपरता नहीं जा सकती तो किसी भी हालत में हम नैतिक नहीं हो सकते। यह आध्यात्मिकता है, भ्रान्ति से मुक्त हो जाना, मुक्ति पा लेना या निर्वाण पा लेना। यह जीते जी मनुष्य में उपलब्ध करने वाली एक मानसिक अवस्थिति है। चेतना की एक अवस्था है। जहाँ हम अपने यथार्थ स्वरूप में आ जाते हैं। यथार्थ और वास्तविकता में फर्क है। शरीर वास्तविक है और वास्तविकता एक तथ्य है। घटनात्मक यथार्थ न तो घटनात्मक है और न ही तथ्यात्मक यह एक सत्य है। अगर हम अपने स्वरूप को उपलब्ध कर लेते हैं तो स्वार्थपरता से भी मुक्ति पा लेते हैं। इतिहास में इस तरह के जो व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने इस तरह से मेटीरियल के साथ अपने तादात्म्य को तोड़ा है उन्होंने ही हँसते-हँसते जहर पीया है। वे ही लोग फाँसी के तख्ते पर खुशी-खुशी चढ़ गये क्योंकि देहाध्यास उन में नहीं रहा और देहाध्यास नहीं है तो धर्म की भाषा में या नैतिकता की भाषा में यह अनैतिकता का आचरण नहीं है। जिसे हम स्वार्थ कहते हैं—ये परिच्छिन्न स्वार्थ, सीमित स्वार्थ जो अन्यों का विरोधी होता है उस का उपयोग हो सकता है। यह जो 'मैं' चेतना है। 'मैं' बद्धी चेतना है, यह कामचलाऊ नहीं है, पर यथार्थ नहीं है तो इस का उपयोग हो सकता है। जैसे हम कागजी मुद्रा का काम चलाऊ उपयोग करते हैं। कागजी मुद्रा में जो वादा है वह वास्तविक धन नहीं है। लेकिन उस के साथ एक राजकीय सत्ता का वादा है।

जिसकी सत्ता से उस कागज के टुकड़े को कीमत मिली हुई है और वह कीमत बाजार में चलती है। इसी तरह यह जो देह के साथ तदाकार 'मैं' चेतना है उस का कागजी मुद्रा की तरह एक काम चलाऊ या वेदान्त की भाषा में एक व्यावहारिक मूल्य है यह व्यावहारिक मूल्य दो दिशाओं में है। इस से हम ज्यादा बन्धन में पड़ सकते हैं। और अपने को मुक्त भी कर सकते हैं। और अपनी चेतना को हम स्वतन्त्र भी कर सकते हैं। और जड़ता जाल में फँसा भी सकते हैं फँसाने के तरीके क्या हैं? जिन्दगी के व्यावहारिक उदाहरण देता हूँ कि 'मैं' जब 'मेरा' बनता है तो तीनों चीजें सामने आती हैं। आदमी को अनैतिक बनाने के लिए एक होता है भय दूसरा है प्रलोभन और तीसरा होता है संस्कार-ग्रस्तता। चौथा मोह भी होता है लेकिन वो संस्कारग्रस्तता का ही हिस्सा है।

महाभारत में एक प्रसंग आता है कि धृतराष्ट्र को विदुर जैसा आदमी बहुत समझाता है कि तुम अन्याय कर रहे हो। नैतिकता यही है कि पांडवों को उन का अपना हिस्सा दे दो। उन्होंने वनवास भी बर्दाश्त कर लिया। दुर्योधन

ने जुए मे छल से इन को ठगा फिर भी इन्होने बर्दाश्त किया। अब इन का हिस्सा उन्हें वापिस कर दो। जो वादा किया था उसे पूरा कर दो। वह कहता है कि नही करता। विदुर कहता है कि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम अपने बेटे को रोको। धृतराष्ट्र कहता है कि मैं लाचार हूँ। बेटे से मोह है उसे रोक नही सकता। बेटे से व्यामोह है। बेटा उस की देह से पैदा हुआ है। व्यक्ति देह के साथ तादात्म्यता है, *यह देह बनी है माँ बाप की देह से। इस देह से दूसरे भी बने हैं।* भाई-बन्धु सभी इस या उस देह से बने हैं। सारा का सारा दैहिक सम्बन्ध है। सब 'मैं' और 'मेरा' का जजाल बनाया हुआ है। जो बनाया है वह हमारा है बाकी है वह दूसरो का हैं दूसरो की हमे कोई परवाह नही कि वे मरें या जीयें। हो सके तो उन्हें नष्ट भी कर दें अगर वे हमारी पूर्ति मे बाधक बनें। अपनी देह और समूह को जोड करके हम ने उसे 'मेरा' मान लिया है या 'हमारा' मान लिया है। इस की पूर्ति कर दो। इसी व्यामोह ने ही तो ये सारी राजनैतिक परिस्थितियाँ पैदा की है। महाभारत का उदाहरण हमारे सामने है ही। अब ये जो राजसत्ता की छीना-झपटी है उस का आधार इस के अतिरिक्त हो ही नही सकता।

गान्धी जी और जयप्रकाश नारायण जैसे लोगो ने अपने नैतिक आदर्शों को बनाये रखा और जेलों की यातनाएँ भी सही। जयप्रकाश जी को बर्फ की सिल्लियो पर भी सुलाया गया। बहुत तीव्रतर प्रतिकूल वेदना हुई होगी लेकिन उन की चेतना का एक स्तर ऐसा था जिस की वजह से वह आसानी से उसे सहन कर गए और अपने व्रत पर अडिग रहे। भय से पतन होता है। प्रलोभन से भी होता है। सस्कारग्रस्तता से भी होता है। ये जितने साम्प्रदायिक *दंगे और झगडे कराये जाते हैं, उन्हे देखें। एक दूसरे को कभी देखा तक नहीं* था। किसी ने कोई नुकसान नही किया और समूह अन्धो की तरह एक दूसरे का खून पानी की तरह बहा देते है। तो इन सारी स्थितियो मे कोरा अगर राजनैतिक सस्था और व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाता है और व्यक्ति वैसा ही रह जाता है—व्यक्ति की चेतना देहात्म बोध से अतिक्रमण नहीं करती तो किसी भी तरह कोई भी व्यवस्था हो उस मे कुव्यवस्था बनने की ही सम्भावना अधिक रहती है। कुछ नेतृत्व देने वाले नक्षत्रो की तरह पैदा होते हैं। जैसे ईसा पैदा हुआ तो वह एक रूपक की भाषा है। बेन्थेलम मे एक 'स्टार' देखा गया। लोगो ने देखा कि सितारा जा रहा है। वह एक रूपक की भाषा है, काव्य की भाषा है। लेकिन गान्धी और जयप्रकाश जैसे लोग पैदा हुए। ये जो पुराने

पैगम्बर पैदा हुए ईसा, बुद्ध या हजरत मोहम्मद। लेकिन इन के साथ एक समूह पैदा हुआ। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि उन्होंने निर्वाण का अनुभव किया तो उन्हें लगा कि कौन समझेगा इस ऊँचाई को, कौन अनुभव करेगा, एक रूपक कहानी है कि ब्रह्मा ने कहा कि इस तरह के महापुरुषों के साथ कुछ व्यक्ति तैयार हो जाते हैं वो वंचित न हो जाए इसलिए आप को उन्हें समझाना चाहिए। अगर समाज का पुनर्निर्माण करना है तो कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति तैयार करने होंगे। सारा समूह इस स्तर तक नही जा पायेगा। उन की चेतना का अतिक्रमण नहीं होगा। लेकिन एक प्रबुद्ध वर्ग ऐसा चाहिए जो विवेकवान, नैतिक और आध्यात्मिक तीनो ही हो। जो हर क्षेत्र में, साहित्य मे, राजनीति में—एक उदाहरण स्थापित करने वाला हो। ऐसा प्रबुद्ध वर्ग सत्ता से अलग रहने वाला होना चाहिए। पैसे के प्रलोभन मे नहीं आएँ और सत्ता के प्रलोभन में नही आएँ और जिस का काम यह हो कि वह समाज की आँखे बन जाए। जो उस का पथ प्रदर्शक बन जाए। तो ये मूल्यों का बोध है ये एक प्रबुद्ध वर्ग के लिए है। उन के लिए जिन मे प्रबुद्ध होने की सम्भावना हो। अगर इस देश में प्रबुद्ध वर्ग तैयार नही होगा जिसे हम विवेकशील या नैतिक आभिजात्य कहते हैं पैसे से मालदार व्यक्ति से अभिप्रायः मेरा यहाँ नही है—और खून से भी आभिजात्य नही, लेकिन जो अपनी बुद्धि से, बोध से, आत्म बोध से और आचरण या चरित्र से जो आभिजात्य हो वह दूसरो को प्रभावित करेगा। और इस तरह का एक वर्ग तैयार हो जाए जिन के हाथ मे पत्रकारिता हो, जिन के हाथ मे साहित्य का सृजन हो, जिन के हाथ मे अन्य कलाओं का सृजन हो, जिन के द्वारा शिक्षा संस्थाओ का संचालन हो और शिक्षा का सृजन और सेवा हो, जिन के हाथ मे चिकित्सा, न्याय एवं कानून हो तो समाज मे एक नई व्यवस्था की पुनर्रचना सम्भव हो सकती है। अगर ऐसा प्रबुद्ध वर्ग पैदा नही होता तो छोटे तात्कालिक स्वार्थों को देखने वाले व्यक्ति समूह से एक साथ अधिक ऊपर उठने की उम्मीद नही की जा सकती। गीता मे कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठ–स्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोक–स्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठजन जो आचरण करते हैं इतरजन उन का अनुकरण करते हैं। इतरजन हमेशा श्रेष्ठ के आचरण को देखता है कि वैसा स्वयं कर सके। इसलिए श्रेष्ठजन पर्याप्त संख्या मे पैदा होने चाहिए और हमारी बौद्धिक क्रियाओं का यह लक्ष्य होना चाहिए।

अब सवाल उठता है कि हम मूल्यो के लिए कहाँ से शुरू करें। मूल्य के लिए एक किसी सस्कृति विशेष का ठेका नही है। लेकिन प्रत्येक संस्कृति की जडें शाश्वत मूल्यों मे हैं। चाहे वह हिन्दू संस्कृति हो, बौद्ध सस्कृति हो, इस्लामिक हो या इसाई हो। कोई भी हो। संस्कृति शाश्वत मूल्यो पर आश्रित है। और इस के बगैर परिवार, समाज या राज्य नाम की सस्थाओं मे सामंजस्य नहीं आ सकता। उन मूल्यो को ही हम कहते है कि यह सत्य है, यह शिव है और यह सुन्दर है। सत्य कहते हैं जब घटनाओ के क्रम मे एक सामंजस्य आ जाए। जिसे वैज्ञानिक सत्य कहते हैं जिसे प्रकृति का नियम कहते हैं तो प्रकृति के नियमो के सामाजिक सम्बन्धो मे भी एक सामजस्य है। आकार और रूप मे सामजस्य आता है तो उसे हम सौन्दर्य कहते हैं। सुन्दरता का मतलब यही है कि आकार, रग और रूप का सामंजस्य। कला के क्षेत्र मे ध्वनि का सामञ्जस्य सगीत का सौन्दर्य है, लय का सामंजस्य कविता का सौन्दर्य है। इस तरह से जहाँ सत्य, सुन्दर और कल्याण हैं, जहाँ स्वार्थों का एक सामजस्य आ जाय कि प्रत्येक आवश्यक स्वार्थों की पूर्ति हो उस मे संघर्ष नही हो वही इष्ट है, कल्याणकारी है और वही व्यवस्था कल्याणकारी है।

बीकानेर प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा "सामाजिक पुनर्रचना के सिद्धांत" विषय पर आयोजित व्याख्यानमाला में दिया गया व्याख्यान।

मनुष्य : गरुत्मान नरपशु

ऐसे संस्थान में बोलना वैसे तो थोड़ा संकोच का ही विषय है, जहाँ सुनने वाले सभी शिक्षित हों, और वह संस्थान भी शिक्षकों को भी शिक्षित करने का स्थान हो। वहाँ मेरे जैसा साधारण व्यक्ति क्या कहेगा? मैं तो जो कुछ भी कहूँगा वह अपने अनुभव और अपने विचार के आधार पर ही कहूँगा। मेरा ऐसा ख्याल है कि कई शब्द गलत अनुवादित हो जाते हैं और उस से कोई समस्या सुलझने के बजाय उलझने जैसी बन जाती है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं 'मोरेलिटी' और 'ईथिक्स'। 'मोरेलिटी' शब्द बना है मुराल से जिस का हिन्दी अनुवाद होता है लोकाचार। और 'ईथिक्स' दर्शन शास्त्र की एक शाखा है और उसी को नैतिकता कहा है। मैं समझता हूँ कि हमारी परम्परा में ज्यादा सही शब्द है। लोकाचार नैतिकता का पर्यायवाची नहीं हो सकता। वह सही अर्थों में उपयुक्त शब्द नहीं बनता और इसीलिए नैतिकता को भी मैं उपयुक्त शब्द नहीं मानता। वैसे हमारे देश में और संसार में अन्यत्र भी बहुपत्नी प्रथा है, कहीं बहुपति प्रथा भी है। अब ये लोकाचार हैं। इस का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। सही शब्द है सदाचार।

सदाचार क्या है? वह स्थायी होता है, सार्वदेशिक होता है, और सार्वकालिक होता है जबकि लोकाचार देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। असली समस्या है सदाचार की और सदाचार वह आचरण है जिस के द्वारा सत्य को जाना, अनुभव किया और जिया जाता है। तो फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि सत्य क्या है? सत्य वह है जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में व्यापक रहता है और तीनों कालों का अतिक्रमण भी करता है। इसीलिए सत्य कभी बदलता नहीं है और जो बदलता है वह सत्य नहीं है। हमारे देश में एक जो सूत्र लिखा गया है; 'सत्यमेव जयते नानृतम्' जो 'अनृत' है वह बदलता है और बदलने वाले को ही 'अनृत' कहते हैं।

मुझे जो कुछ कहना है उस से पहिले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि यह समस्या केवल मनुष्य की है। न पशुओं की समस्या है सदाचार और न देवताओं की। वह

सारी समस्या मनुष्य के लिए ही है। बहुत वर्ष पहले बीकानेर मे एक सूफी कव्वाल आए थे। उन्होने अपनी एक कव्वाली मे मनुष्य को परिभाषित करने की चेष्टा की थी। मुझे बड़ी मौजूँ लगी। मनुष्य को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा—

मैं खूब जानता हूँ कि तुम कौन हो, क्या हो,
गर कुफ्र न होता तो मैं कहता कि तुम खुदा हो।

यह उन्होंने मनुष्य को परिभाषित किया कि यदि तुम्हारे अन्दर कुफ्र नही होता तो मैं कह देता कि तुम खुदा हो। अब कुफ्र क्या है? हमारी परम्परा बताती है कि जो बदलता है वह कुफ्र है और जो नही बदलता है वह खुदाई है। और मनुष्य इस सत्य और अनृत की ग्रन्थि है। मनुष्य का जीवन इसीलिए उसे आप एक तस्वीर की तरह समझने का ख्याल करें तो आप ने मिश्र के स्फिक्स के कुछ नमूने देखें होगे। पशु का शरीर है और मनुष्य का चेहरा है और दो तरफ पंखे है। इस को हम अपनी भाषा मे कहें तो मनुष्य 'गरुत्मान नर पशु' है। गरुत्मान पांखो से उड़ने वाले को कहते है। नर उस का चेहरा है और उस का शरीर पशु है। स्फिक्स की तस्वीर में ये ही बात पाई जाती है। उस हिसाब से मनुष्य एक त्रिविधात्मक इकाई है जिस की एक विधा पशुत्व की है, दूसरी नरत्व की और तीसरी अतिक्रमिन करने वाली, उड़ान भरने वाली, ऊपर निकल जाने वाली। प्रत्येक मनुष्य इस तरह से त्रिविधात्मक है। जहाँ पर सदाचार का नैतिकता का प्रश्न है वहाँ पर यही एक बुनियादी सवाल है कि मनुष्य का कोई विज्ञान हो सकता है क्या? हमारी परम्परा यह बताती है कि सदाचार भी विज्ञान की एक शाखा है और जो मूल विज्ञान है वह मनुष्य का विज्ञान है। जिस तरह 'मेडिकल साईन्स' की एक शाखा 'हैल्थ और हाईजीन' है, दूसरी शाखा है 'शरीर विज्ञान', तीसरी शाखा "शरीर विकृति विज्ञान है" जिसे हम 'पैथोलोजी' कहते है। इसी तरह 'निदान' उस की चौथी शाखा है। इसी तरह 'आयुर्विज्ञान' की शाखा-प्रशाखाएँ है। उसी तरह मानव विज्ञान की एक शाखा है सदाचार। विज्ञान वह है जिस का व्यवस्थित रूप से अध्ययन और प्रयोग किया जा सकता है। अगर उस मे क्रम और व्यवस्था नही है तो वह विज्ञान भी नही है।

मैंने कहा कि मनुष्य त्रिविधात्मक है। पहिले मैं उसकी पशु विधा लेता हूँ। पशु विधा वही है जो उस के शरीर की विधा है। शरीर की विधा की दो बुनियादी चीजें हैं' एक जिजीविषा और दूसरी भोगेषणा या आनन्द प्राप्त करने की इच्छा। ये दो बुनियादी विधाएँ मनुष्य मे भी हैऔर पशु में भी। अनुकूलता की भूख और जीवित रहने की लालसा दोनो में समान है। और इसी लिए

हमारे पुराने नीतिकारों ने कहा है कि 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनश्च' ये चार क्रियाएँ मनुष्य और पशु में समान हैं। मनुष्य और पशु का फ़र्क करने वाली जो चीज है उसे कहते हैं धर्म। आप आहार को लें। प्रत्येक पशु का आहार नियत है, प्रकृति से नियत है और वह उस के दाँतों की बनावट से सपष्ट हो जाता है। माँस भक्षी शेर, बिल्ली वगैरह के दाँतों की बनावट बताती है कि ये माँसाहारी हैं। शाकाहारी के दाँत और किस्म के होते हैं। और पशु, प्रकृति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। और उल्लंघन करता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक पशु की कामाचार वृत्ति प्रकृति के द्वारा नियन्त्रित है। प्रकृति के सम्पर्क में रहने वाले अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक पशु-पक्षी की एक नियमित मौसम होती है जिस में उस की कामवासना का उद्रेक होता है। लेकिन मनुष्य की ये दोनों बुनियादी पशु वृत्तियां अनियमित हैं और प्रकृति के द्वारा नियन्त्रित नहीं हैं क्योंकि मनुष्य की अस्मिता है। वह स्वतन्त्र है और पशु के अन्दर अस्मिता अभिव्यक्त नहीं है और इसी लिए वह पूरी तौर पर प्रकृति पर निर्भर है, परतन्त्र है। तो अस्मिता पैदा होना ही सदाचार का और असदाचार के बुनियादी सवाल का पैदा होना है। हजरत मोहम्मद ने एक उक्ति बड़ी सार्थक कही है कि संसार भर के इन्सान में दो ही तरह के इन्सान हैं। एक वे जिन को मैंने किताब दी है दूसरे वे जिन को किताब नहीं मिली। जिन को किताब मिली है उन का फ़र्ज़ है कि किताब का पैगाम उन तक पहुँचाएँ जिन को किताब नहीं मिली। हमारे यहाँ कहते हैं कि एक वे हैं जिन को शास्त्र उपलब्ध हैं और एक वे हैं जिन को शास्त्र उपलब्ध नहीं है। कुरान शरीफ भी शास्त्र है, बाइबिल भी शास्त्र है, गुरुवाणी, गुरु ग्रन्थ भी शास्त्र है। वेद भी शास्त्र है। इस तरह दुनिया में जहाँ भी पशु और इन्सान का फर्क होता वो बजरिए किताब होता है और वह किताब पार्थिव शब्दावली से नहीं बनी है। उसे आसमानी आवाज कहते हैं। वो 'रिवेलेशन' है। 'रिवेलेशन' का मतलब यह होना है कि इस आकाश में ओतप्रोत भूताकाश है और उस से परे एक चित्ताकाश है—मानसिक आकाश जिस में उस किताब का स्फुरण होता है और भूताकाश में उस का स्पन्दन होना है और वो स्पन्दन जिस को सुनाई देता है वह व्यक्ति ऋषि हो जाता है मुनि हो जाता है, पैगम्बर हो जाता है, पीर हो जाता है, औलियाँ हो जाता है। और वह इस बात के लिए पैगाम देता है कि काम और जिजीविषा की इन बुनियादी पशु वृत्तियों को मर्यादित करो, सीमित करो। यह सीमित करना ही पहला कदम

है। मनुष्य को और इस को परिमित करना और सीमित करना। उस का मतलब है कि चाहे जो कुछ मत खाओ, चाहे जिस वक्त मत खाओ, चाहे जो मत पिओ, चाहे जिस वक्त मत पिओ और उसी तरह कामाचार को मर्यादित करो। चाहे जिस समय पर और चाहे जिस के साथ नही। उस को सीमित करो। तो एक बुनियादी प्रश्न आ जाता है: क्यो सीमित करो ? इसीलिए कि पशुत्व से आगे उठकर दूसरे स्तर की या मनुष्यता की उपलब्धि प्राप्त करना।

तब सवाल यह उठना है कि ये मनुष्यता क्या है ? नर कभी अकेला नही है, मनुष्य जीवन अकेला नही है। वह परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है, पारस्परिक है, दूसरे मनुष्यो पर निर्भर करता है, पशुओ पर निर्भर करता है, वृक्षो पर निर्भर करता है प्रकृति पर निर्भर करता है। हवा पर, पानी पर, जमीन पर, गुरुत्वाकर्षण पर, प्रकाश पर इन सब पर निर्भर करता है। और इसी लिए मनुष्य मे मनुष्यता की सबसे बडी बात यह है कि मनुष्य कर्जदार है। जैसे ही अस्मिता पैदा हुई तो कर्जदार भी पैदा होता है। वह (मनुष्य) कुदरत का कर्जदार है, पाँचो तत्त्वो का कर्जदार है, पर्यावरण का कर्जदार है, वृक्षो का कर्ज़दार है, पक्षियो का कर्जदार है, और जिस समाज मे पैदा होता है उसका वह कर्जदार है। एक सतुलन है जिसे आजकल पर्यावरण का संतुलन कहते हैं उस को बनाए रखने का काम मनुष्य का है। वह कर्जदार है, वह ऋणी है, इसी लिए तो उस का सबसे बडा काम अपना ऋणमोचन है। कर्ज को उतारना ही मनुष्यता है और कर्ज को अदा करना ही फर्ज है। कर्ज नही है तो फर्ज नही है। 'ड्यू' का 'रिपेमेन्ट' ही 'ड्यूटी' है। तो प्रत्येक मनुष्य पर ड्यूटी कर्त्तव्य का भार है, ऋणभार है। यह ऋणभार मनुष्य से शुरू होता है। शरीर के लिए ऋणभार है माँ और बाप। इस के बाद ज्ञानोपार्जन हुआ है तो गुरुओ का, लेखको का, विद्वानो का ऋणभार है जिन से उस के मन और बुद्धि का विकास हुआ है। पहले को कहते हैं पितृ ऋण और दूसरे को कहते हैं ऋषि ऋण। तीसरा ऋण भार है कुदरत या प्रकृति का देव ऋण जिसे कहते हैं, और चौथा ऋण भार है उस का जिसे भूत ऋण कहते हैं। अर्थात् गाँव मोहल्ले के कुत्तो का, गायो का, पक्षियों का सब का ऋण भार है। गाँव और चारो तरफ के परिवेश भी कर्जदार हैं। उस का जाने-अनजाने हम पर कर्ज चढता रहता है और उस कर्ज का फर्ज हमे उतारना है। 'ड्यू' को चुकाना है। इसे ही कर्त्तव्य—'ड्यूटी' कहते हैं और ये 'ड्यूटी' ही 'मोरेलिटी' है। ऋण मोचन

ही नैतिकता है। मनुष्य पेटू हो सकता है पर पशु पेटू नहीं हो सकता। तो ये अतिरिक्त की जो भूख है वह पशुता की ओर ले जाने वाली है और उसे सदाचार के मार्ग से च्युत करने वाली है। अगर वो नियन्त्रित है तो अपनी ऊर्जा का प्रयोग वह ऋणमोचन में करेगा। तो जिन माँ बाप से शरीर मिला है उन का ऋणमोचन है। जिन गुरुओं से विद्या मिली है उस परम्परा को कायम रखने के लिए बदले में दूसरों को विद्या दें। विद्यार्थी आपके पास उसी तरह आते हैं जिस तरह विष्णु बलि के यहाँ भीख माँगने के लिए गया था। गीता कहती है कि वह भी परमात्मा का एक अंश है और अंश के रूप में अंश ही आपसे ज्ञान की भीख माँगने आता है। पाठशाला के द्वार पर उसे भिक्षा देना आपका कर्त्तव्य होता है क्योंकि आप ऋणी हैं। ऋषि ऋणमोचन के लिए वह बहुत ही आवश्यक है। इसी तरह परिवेश को साफ-सुथरा रखने के लिए पानी को, हवा को, जमीन को निरन्तर साफ सुथरा रखना मनुष्य का फर्ज है। अगर फर्ज अदा नहीं करेगा तो वातावरण गन्दा हो जायेगा। उसी तरह हम तमाम मनुष्य एक दूसरे पर निर्भर हैं। हमारे ऊपर सब पर राज ऋण है। अगर राज्य रक्षा नहीं करे तो अराजकता फैल जाती है, गुण्डागर्दी फैलती है। राज ऋण चुकाने के लिए हम कर देते हैं। जहाँ से आजीविका लेते हैं वह हमारे पर ऋण है। उस ऋण को उतारने के लिए आवश्यक है कि जिस काम के लिए हमें नियुक्त किया गया है उसे ईमानदारी से करें। सारी गीता इस बुनियादी चीज पर टिकी हुई है। जब अर्जुन भागने लगा, तो कृष्ण ने उस से यही कहा कि अपनी 'ड्यूटी' को समझ। गृहस्थ है और क्षत्रिय है और युद्ध है तो तेरा क्षात्र धर्म क्या है? धर्म की जो धारणा है वह विज्ञान है। मनुष्य का धर्म ही मनुष्य का विज्ञान है और मनुष्य क्योंकि त्रिविधात्मक है इसलिए उस के धर्म के भी तीन स्तर हैं। देह रक्षा और नस्ल रक्षा उस का धर्म है तो सारे परिवेश के साथ सन्तुलन बनाए रखना भी उस का धर्म है। जो उस का धर्म है वही नैतिकता है और वही सदाचार है। इसीलिए हमारे यहाँ संस्कृत में कहावत है 'धर्मो रक्षति रक्षतः' आप धर्म की रक्षा करें, धर्म आप की रक्षा करेगा। आप राजधर्म की रक्षा करें राजधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप लोकधर्म की रक्षा करें, लोकधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप प्रकृति के स्वाभाविक धर्म की रक्षा करें, प्रकृति का स्वाभाविक धर्म स्वास्थ्य के रूप में आप की रक्षा करेगा। यहाँ हमारे यह हजारों वर्षों की परम्परा में चला आने वाला एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है और इस को विज्ञान की तरह से रखा

गया है। जिस तरह मनुष्य एक त्रिविधात्मक इकाई है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड भी त्रिविधात्मक इकाई है। वह पूर्ण है–'टोटेलिटी'–और मनुष्य उसी का एक विशिष्ट–पर्टिकुलेरिटी–अंश है। इसीलिए हमारे यहां एक सूत्र है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है और जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्माण्ड को कहते हैं 'मेक्रोकाज्म' और पिण्ड को कहते हैं 'माइक्रोकोज्म'। तो मनुष्य पिण्ड में जो बातें हैं वही ब्रह्माण्ड में है। और मनुष्य पिण्ड की यह विशेषता है कि वह ब्रह्माण्ड के स्थूल और सूक्ष्म सभी स्पन्दनों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है और उन तक अपनी इच्छाओं और संकल्पों को सम्प्रेषित करने की भी क्षमता रखता है। लेकिन मनुष्य की देह है वह इतनी दक्ष और संस्कारित नहीं है, और इसीलिए उस का उचित प्रशिक्षण नहीं है। यहां पर इस जगह पर सारी ध्वनियां मौजूद है जो टी वी. पर आप को दिखाई और सुनाई पड़ती है। अगर एक सैट है और उस का बिजली के करन्ट से सम्पर्क स्थापित कर दिया जाए तो करेन्ट तो शक्ति देगा उस में और 'ट्यूनिंग' आप को प्रापर वेव लैंग्थ पर लगा देगा ताकि दूसरी वेव लैंग्थ को छानकर एक कार्यक्रम सुनायी भी देगा और दिखायी भी देगा। इसी तरह ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध कायम करने का भी एक सैट है और वह है मनुष्य का शरीर। लेकिन अब तक 'प्रापर ट्यूनिंग' हमें नहीं आता और उस के लिए 'नर्वससिस्टम' 'प्रापर एनर्जी' इस्तेमाल करना हमें नहीं आता। मनुष्य का विज्ञान उस का इस्तेमाल करना बताता है। वह कहता है कि यह जो नैतिकता है, सदाचार है, यह अन्तिम नहीं है। यह मध्य की कड़ी है क्योंकि मनुष्य गतिमान नर पशु है। मनुष्य ने पशुत्व को मर्यादित कर लिया और इसे मर्यादित करने से वह 'पशुपति' हो गया यानी पशुत्व पर तो सवारी कर ली लेकिन नरत्व में नारायण होने की सम्भावना की मनुष्य ने अभी तक खोज नहीं की है। जिन लोगों ने की है उन को हम महान् गुरु, सिद्ध पुरुष, सन्त, ऋषि, पीर, पैगम्बर, औलिया आदि नामों से सम्बोधित करते है। तो उन के लिए भी 'मोरेलिटी' नहीं होती है। वे 'मोरेलिटी' को अतिक्रमित कर चुके हैं। इस कारण सदाचार के लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह उसी तरह प्रतिफलित होता है जिस तरह हम साँस ले रहे हैं। साँस अनायास चलती है कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता आँख अनायास बन्द होती है और खुलती है, कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तो जो नरत्व का अतिक्रमण कर गए उन के लिए सदाचार नहीं है। पशु के सदाचार और पशु के आचरण का सवाल नहीं उठता क्योंकि वह प्रकृति के द्वारा मर्यादित है। इस लिए विधि और निषेध इन्सान के लिए हैं क्योंकि

वह सामाजिक प्राणी है और उस के समाज का दायरा बहुत बड़ा है। सिर्फ मनुष्य जाति ही उस का समाज नहीं है। जिसे आज पर्यावरण कहते हैं वह सारा उस का समाज है। उस के साथ उस का आदान प्रदान है, लेन-देन है। तो हमारे वेद का एक मीमांसा शास्त्र है। वह कहता है कि मनुष्य के सभी सम्बन्धो के पीछे एक विज्ञान है—कर्म का विज्ञान। वह यह बताता है कि ये ऋणानुबन्ध हैं। जब जिन्दगी शुरू होती है तो उस ऋण का लेन-देन शुरू जाता है, माता-पिता से और फिर आगे आकर वह फैलता जाता है। कारोबार चलता रहता है और जिन्दगी चलती रहती है और यों करके जब खाता बेबाक हो जाता है, आदमी मृत हो जाता है। और जब तक खाता चालू है तब तक ये लेन-देन, ऋणानुबन्ध है। वह सिक्कों में नहीं होता, किसी मुद्रा में नही होता उस की मुद्रा है आनन्द और दुःख। ये ही दो पहलू हैं उस की मुद्रा करेन्सी के। 'मोरेलिटी' का जो अंतिम छोर है वह दर्शन में है–मैटाफिजिक्स में। प्रेक्टिकल साइड में जितना है उस का मतलब है ऋणानुबन्ध से–कर्ज का फर्ज अदा करने के लिए। वह 'मोरेलिटी' का व्यावहारिक पहलू है और दिन-रात हमारे काम का है और हमे 'मोरेलीसोल्वेन्ट' होना चाहिए, दिवालिया नही होना चाहिए। अब एक तरह से मोरेलिटी का भी एक विज्ञान है क्योंकि 'मोरेलिटी' एक सम्बन्ध विधान है और तथ्यो के सम्बन्ध विधान के स्वरूप की तलाश करना ही विज्ञान का काम है। और उस स्वरूप के मुताबिक व्यवहार करना विज्ञान का व्यवहार है। भौतिक परिवेश के कुछ 'नार्म' हैं और उन के अनुसार रहना ही 'नार्मल' रहना है। इसी तरह मनुष्य के व्यवहार में नार्म बना रहना चाहिए कि बाहर का परिवेश यदि प्रतिकूल हो गया हो तब भी हमारे व्यवहार का नार्म बना रहे और बाहर का अनुकूल हो गया हो तब भी उच्छृंखल हूदें नही, उस का नार्म बना रहे। गीता में कहा है कि दुःख आए तो उद्विग्न नही हो और सुख आए तो हर्षित नहीं हो। इस का एक उदाहरण है। तुलसी दास ने अयोध्या काण्ड के शुरू मे कहा है कि मैं राम का ध्यान करता हूँ राम के मुँह का ध्यान रखता हूँ बोले क्या तो वह कहता है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

जिस राम को पहले दिन कहा कि बेटा तैयार हो जाओ तुम्हारे पिता ने तो तुम्हें राज-गद्दी देने का निर्णय लिया है। प्रजा को निमन्त्रण (इनवीटेशन) भेज दिए हैं और सारा सरंजाम हो गया तो बोले यह बात सुनकर खुशी के मारे

उछले नहीं 'प्रसन्नता या न गता . ' चेहरे पर खुशी के उछाल नहीं आए 'न मम्ले वनवास दु:खत:' दूसरे दिन कहा कि भई पटरा पलट गया मौसी ने तो सारा ही गड़बड़ कर दिया अब तो चौदह वर्ष का वनवास है, तो बोले उसका चेहरा मुरझाया नहीं और म्लान नहीं हुआ। यह जो चेहरे का एक सा शान्त बना रहना है ये नार्म ऑफ ह्यूमिनिटी है। ये मनुष्य का 'नार्म' है और इस 'नार्म' को बनाए रखने वाला ही सदाचारी हो सकता है । सदाचार का लक्ष्य यही हो कि इस तरह का नार्म बना रहे । इसे कहते हैं स्वस्यता–स्व: का स्थित होना। तो एक तो शरीर की स्वस्थता है दूसरी है अन्त:करण की। वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में कहे तो स्व का 'आधि' और 'व्याधि' से मुक्त होना है। व्याधि शरीर की होती है जिसे हम रोग कहते है। 'फिजीकल डिजिज'। आधि होती है अन्त:करण की। अन्त. करण को स्वस्थ बनाने वाली विधा का नाम है 'मोरेलिटी' । यह 'साईन्स ऑफ ह्यूमिनिटी' है। हमारी सारी परम्परा कहती है– मनेव मनुष्याणाम् कारण बन्ध मोक्षे' मन ही मनुष्य है जो बीच मे है–नर और पशु के बीच मे, पशुत्व और देवत्व के बीच मे। और मन ही मनुष्य है। वही अपने बन्धन का कारण है। अगर पशुत्व को तरजीह दे देता है तो बन्धन मे पड़ता जाता है और अगर वह अध्यात्म को तरजीह दे दे तो बन्धन मुक्त हो जाता है । मोरेलिटी की बात मैंने संक्षेप मे समय की सीमा देखते हुए आपके सामने रखी।

अब अतिक्रमण की बात करें जो उस का तीसरा पहलू है। बन्धन और मोक्ष क्या है? आम तौर से काम मे लेते-लेते ये शब्द घिस गए। लेकिन ये महत्त्वपूर्ण शब्द है बन्धन और मोक्ष। डॉ. भगवानदास ने एक फार्मूला बनाया और उस फार्मूले से आप तय कर लीजिए कि मनुष्य अतिक्रमण कैसे करता है । अपने को अतिक्रमित करने के लिए पशुत्व से ऊँचा उठना होता है, 'बिआण्ड' चले जाना होता है।

मनुष्य के अन्दर उसकी आत्म चेतना का ये जो अतिक्रमण है यह पशुत्व के गुरुत्वाकर्षण से तो निकला, पारस्परिक दायित्व से अपने आप को उस ने सशोधित किया, ऋणमोचन किया, निर्भार हुआ । निर्भार होने से फिर अतिक्रमित होता है। यानि यहाँ का जो आकर्षण है अटेचमेंट है दुनिया का, ससार का, परिवार का, समाज का, राज्य का इस सब अटेचमैंट से 'डिटेच' हो। डॉ भगवान दास ने एक फार्मूला दिया—'अटेचमेंट' क्या है ? और 'डिटेचमेंट' क्या है ? उन्होने एक बहुत बढ़िया सूत्र दिया 'अहम् एतत् न'

और तीन ही शब्द अंग्रेजी में कहे 'आई एम दिस नॉट'। बिलकुल साधारण सा लगता है परन्तु अतिक्रमण का सारा दर्शन इस में भरा पड़ा है। 'मैं यह हूँ', 'यह मेरा है', यह बन्धन है और 'मैं' यह नहीं हूँ, 'यह मेरा नहीं है, यह अतिक्रमण है। उदाहरण के लिए देखिए मनुष्य के—मैं के सात बन्धन होते हैं। पहला बन्धन है देह। 'मैं देह हूँ' यह पहला बन्धन है। फिर इस देह के सुख-दुःख मेरे हैं। लेकिन देह सुरक्षित चाहिए तो बोले कोई झोंपड़ा तो हो सर पर कोई तप्पड़ तो हो, उसके लिए चाहिए गेह। तो देह के बन्धन के बाद गेह का बन्धन। लेकिन केवल गेह का, सूने घर का क्या अर्थ ? स्त्री के बगैर घर बसता है क्या ? तो उसे कहते हैं कलत्र बन्धन। लेकिन स्त्री बांझ हो तो घर अच्छा लगता है क्या ? उस के भी कोई आल-औलाद हो। तो उसे कहते हैं पुत्र बन्धन। "देह, गेह, पुत्र कलत्र बन्धन।" फिर पैसा न हो तो पुत्र-कलत्र खायें क्या ? पांचवा बन्धन है वित्त बन्धन। अब वित्त भी मेरा लेकिन कोरे वित्त से क्या है ? थोड़ा समाज में पद तो हो, तो पद बन्धन। और सातवां लोगों में ख्याति हो, यश हो, तो देह, गेह, पुत्र, कलत्र, वित्त, पद और प्रतिष्ठा। सात गाँठों से मनुष्य का 'मैं' जकड़ा हुआ है। इन बन्धनों से रहित हो जाएँ तो यह अतिक्रमण है। पर रहित हो कर भागकर जायेगा कहां ? जहां भागा 'मैं' और 'मेरा' बन जायेगा। जहां जायेगा वहां भी कुछ न कुछ 'मैं' के 'अतिरिक्त' है जो 'इदम्' में है या 'एतद्' है जिसे 'दिस' कहते हैं। 'दिस' के साथ जहां भी 'मैं' और मेरा का सम्बन्ध है वह कोरी मानसिक कल्पना है। यह सम्बन्ध सच्चा नहीं है। यह गाँठ सच्ची नहीं है। इसी को तुलसीदास ने एक चौपाई में कहा है—जड़ चेतन ग्रन्थि पड़ गई" 'मैं' चेतन है। चेतन वह है जो अपने को जानता है, जड़ को भी जानता है। और जड़ वह है जो न अपने को जानता है और न ही चेतन को जानता है। लेकिन कहते हैं कि दोनों की कैसे ही गाँठ पड़ गई—जड़ चेतन ग्रंथि पड़ गई"। और यद्यपि यह मृषा बिलकुल झूठी है—गाँठ पड़ नहीं सकती—फिर भी छूटती बड़ी मुश्किल से है। छूटना बहुत कठिन है। ये डॉ. भगवान दास ने जो फार्मूला दिया है वह यह है कि 'दिस' को को आप फिजीकली मत छोड़ो। 'मेन्टली' छोड़ो पर डिटैच' हो जाओ और इन के 'आब्जरवर' बन जाओ। इन के साथ अपने को 'आइडेन्टीफाई' मत करो बस, आप मुक्त हो गए। कैसे आब्जरवर बन जाओ ? जैसे देह कोई दूसरी चीज है। पुराने साधु महात्मा से पूछते—महाराज आप पहले क्षत्रिय थे क्या ? बोलते—मेरा कुल क्षत्रिय था मेरा शरीर क्षत्रिय नहीं। और गाँव की पुरानी समझदार स्त्रियों से पूछते—माई, कितने

बच्चे है ? जवाब होता–भगवान के बच्चे है । यानि मेरे नही है। तो 'आई' और 'माई' का मानसिक जुड़ाव ही सारी बुराई की जड़ है– सारी 'ईमोरेलिटी' की ओर इस से 'डिटेच' हो जाना ही इस से मुक्त हो जाना है। यह अतिक्रमण का एक कदम है दूसरा कदम है फिर किसी से अटैच होना। 'मैं' निर्वात मे तो नही रह सकता। तो 'मैं' उस से अटैच हो जाए जिस से यह सारा ब्रह्माण्ड चलता है, जो इस सारे ब्रह्माण्ड का स्व है। उस के साथ 'अटैच' हो जाए। अक्सर लोग सन्देह करते हैं कि उस का तो हमे पता ही नही है। कैसे हो ? ब्रह्माण्ड चलता है भी कि नही चलता है ? तो मैं आप सब से एक प्रश्न करता हूँ आप सब खाना खाते हैं। खाते हैं, पीते हैं और यही कहते हैं कि मैंने खाया। खाना पचाया किस ने ? आप पचाते हो क्या ? बोलिए, इस का जवाब क्या है ? आपने खाना खाया एक एक चीज छाँट कर अपनी रूचि से खाई। आप ने पचास चीजों मे से पाँच चीजें चुनी लेकिन अन्दर पचाया किस ने ? और वहाँ पर आप का हुक्म चलता है क्या कि पूड़ी तो बायीं तरफ चली जाए और चावल दाहिने ! ऐसा हुक्म चलाते हैं क्या पाचन क्रिया मे ? और इस का होमोग्लोबिन बन जाए और इस का प्रोटीन बन जाए ? यह आप के हुक्म से हो रहा है क्या ? इस का संचालन कौन कर रहा है ? आप के शरीर मे ही पाचन क्रिया का संचालन कौन कर रहा है ? वही शक्ति कर रही है जो विश्व का संचालन करती है और इस विश्व का संचालन करने वाली जो शक्ति है उसी का नाम है–'यूनिवर्सल सेल्फ'। हमारी जो 'सेल्फ' है 'थाई' 'आई' बोलने वाली 'इन्डिविजुअल' है और 'यूनिवर्सल' है। और यह 'इन्डिविजुअल' उस 'यूनिवर्सल' का 'ऐसेन्शियल (अभिन्न)' पार्ट है जो कभी भी उस से डिटैच नही हुआ, लेकिन 'इन्डिविजुअल सेल्फ' उस 'यूनिवर्सल' सेल्फ को भूल गया। हम को उस 'यूनिवर्सल' सेल्फ का होश नही है और सारा होश है इसीलिए अल्लामा इकबाल ने एक बहुत बढ़िया बात कही थी कि हल्का करो, ट्रान्सेन्ड करो भाप की तरह ऊँचा उठाओ। पानी है तो गुरूत्वाकर्षण है। जमीन का आकर्षण खींचेगा। इसे गरम करो जिस को कहते हैं तपस्या करना। 'कन्सन्ट्रेट' करो, 'मेडिटेट' करो, ऊँचा उठाओ, ऊँचा उठते ही भाप हो जायेगी। तुम्हारा 'मैं' भाप बनकर बादल की तरह ऊपर उठेगा, बुलन्दी की ओर जायेगा। इकबाल ने एक शेर कहा है––

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तक़दीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है।

उस वक्त जीवात्मा और परमात्मा में एक संवाद (कम्यूनिकेशन) स्थापित होता है। तो जो 'ट्रान्सेंड' कर गया वह मुक्त हो गया।

राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर में दिए गए एक व्याख्यान का किंचित संशोधित रूप।

भारतीय परम्परा : मूल दृष्टि

आधुनिकता और परम्परा के रिश्ते पर विचार करने से पहले यदि परम्परा को ठीक से समझ लें तो आगे बात साफ हो जायेगी। परम्परा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे किसी गैर तरीके से नही समझा जाय। गैर तरीके से मेरा आशय यह है कि यह जो आधुनिक विचार शैली है या जिसे हम वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं उस से परम्परा की सही समझ विकसित नही हो सकती। वैज्ञानिक विचार शैली के दो तरीके है—एक है विश्लेषणात्मक और दूसरा है ऐतिहासिक या कालक्रमात्मक। वस्तु, उस को अवयवो मे बाँटना, विश्लेषण करना और फिर यह सिद्ध करना कि वह इन का संयोग है या जोड़तोड़ है। दूसरा तरीका है कि कालक्रम से उस के विकास की अवस्थाओ को समझना। इन्हें 'ऐनेलेटिकल मोड ऑफ थॉट' और 'हिस्टोरिकल मोड ऑफ थॉट' कहते हैं। विज्ञान मे दोनो का समावेश है—आधुनिकता मे दोनो का समावेश है। विज्ञान अलग-अलग शाखाओ में अपनी खोज करता है और इस पर कुछ निष्कर्ष निकालता है लेकिन विज्ञान से प्रभावित होकर आधुनिकता का जो चिन्तन दर्शन बनता है उस मे ये दोनो पद्धतियाँ प्रभावी होती है और इस के आधार पर सारी 'रेशनल फिलोसोफी' या 'साईन्टिफिक फिलोसोफी' या 'नेचुरल फिलोसोफी' बनती है। इस तरह की चिन्तन शैली से हम परम्परा को नही समझ सकते क्योंकि यह 'रिडक्शनिजम' का तरीका है। 'हायर वैल्यूज' को 'लोवर वैल्यूज' से समझने की कोशिश। यह चेतना को न्यूरो लॉजी के आधार पर समझना है। चेतना को अचेतन से और जीव को अचेतन से और जीव को निर्जीव से समझने की चेष्टा की जाती है। जटिल को सरल से समझने की चेष्टा की जाती है।

लेकिन इस विचार प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य का अपना विमानवीकरण होता है। मैं इसकी पुष्टि मे एक उदाहरण देना चाहता हूँ—जॉरजी ने एक उपन्यास लिखा है—"पच्चीसवाँ घण्टा"। आनन्द कौशल्यायन ने हिन्दी में उस का अनुवाद किया है। उस का घटना क्रम द्वितीय विश्वयुद्ध से सम्बन्धित

है। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान एक जवान लड़का और लड़की का बाप घोड़े बेचने का व्यापार करता है। लड़का खेती का काम करता है। आपस मे प्रेम हो जाता है। थोड़े दिनों बाद ही विश्वयुद्ध जोर पकड़ लेता है। दोनों गिरफ्तार हो जाते हैं। लड़का कहता है कि मुझे क्यों गिरफ्तार किया गया? उत्तर मिलता है कि तुम्हारा नाम यहूदियों जैसा मालूम पड़ता है। लड़का कहता है हम यहूदियों के मौहल्ले में रहे थे, वास्तव में यहूदी नहीं हैं। लेकिन सन्देह के आधार पर नाजी उसे गिरफ्तार कर लेते हैं लड़की भी गिरफ्तार होती है। आखिर लड़के को बन्दी शिविर मे ले जाया जाता है वहाँ उसे एक काम दिया जाता है। उस का काम सिर्फ इतना ही होता है कि ज्यों ही लिफ्ट नीचे आए एक टन् की आवाज के साथ उस के बटनों के सन्दूक लिफ्ट में से खीचने हैं। इस तरह वह सन्दूक खीचता रहता है और लिफ्ट की घण्टी और उस की आवाज के साथ उस का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसी के सामने एक दूसरी जवान लड़की भी यही काम करती है। दोनो एक दूसरे की तरफ़ आकर्षित होते हैं। काम करते करते आपस में थोड़ी बातचीत भी कर लेते हैं। नतीजा यह होता है कि दोनों ही लिफ्ट की घण्टी के साथ कभी-कभी सन्दूक को बाहर नही खीच पाते। और जो प्वाइंट मिस करते वह मशीन के मीटर मे आ जाता है। इस पर सार्जेण्ट आकर दोनों को हण्टर से पीटना शुरू कर देता है। लड़का लड़की कहते हैं कि इस में उनकी गलती नहीं है। वे तो बराबर काम कर रहे है और एक प्वाइंट यदि मिस हो गया तो भी क्या हो गया? सार्जेण्ट कहता है कि वे आइडियल वर्कर नही हैं क्योंकि आइडियल मैन वह होता है जो मशीन खुलकर सहयोग करे। जबकि वे मशीन से असहयोग कर रहे हैं। उपन्यास मे तो ऐसे कई प्रसंग और भी घटित होते हैं। एक प्रसंग इसी बात का और बताता हूँ। जेल में डॉक्टर लड़के के खून की जाँच कर कहता है कि उस का खून तो आर्यन-जर्मन जाति का लगता है। वह सार्जेण्ट से उसे छोड़ देने को कहता है। उसे कैदियों के ऊपर जमादार बना दिया जाता है। उस के बाद युद्ध समाप्त होता है। शिविर के कैदियों को धीरे-धीरे क्रमशः छोड़ा जा रहा है। उन के साथ एक बुजुर्ग सा यहूदी होता है। वहाँ वह लड़की मिल जाती है जो कभी उसके पड़ोस में रहा करती थी। बैरक मे तीनो रहते हैं। जल्दी छूटने के लिए कई दरख्वास्तें देते हैं। पर कोई सुनवाई नहीं होती। आखिर तंग आकर उन्होंने एक दरख्वास्त मे लिखा कि आपने शिविर में इतने आदमियों को व्यर्थ मे ही रख छोड़ा है या तो आप इन्हें छोड़ दें, या इन्हें मारकर मोम की चर्बी से साबुन बनाकर

बाजार मे बेच दें ताकि सरकार को आर्थिक मुनाफा हो। उस दरख्वास्त का जवाब आता है कि वह उच्चाधिकारियो को विचार के लिए प्रेषित कर दी गई है। फिर कई दिन निकल जाते हैं। एक दिन वह लडकी बहुत झुंझलाती है कि यहाँ तो कही कोई न्याय ही नही है। जिन पर गम्भीर से गम्भीर आरोप थे वे भी हम से पहले छूट गए। बुजुर्ग कहता है कि आज न्याय और अन्याय का पैमाना बदल गया है। हुआ यह है कि आज तक तो स्त्री और पुरुष के समागम से मनुष्य पैदा होता आया है लेकिन अब एक नयी नस्ल का मनुष्य पैदा हुआ है। मशीन और आदमी के समागम से। इस का आकार तो मनुष्य जैसा है पर दिमाग मशीन की तरह काम करता है। और मशीन का दिमाग गणित की तरह क्रमानुसार काम करता है। इसमे ए, बी, सी, डी, का क्रम है और गणित की संख्याएँ हैं। तुम्हारे नाम 'आर' तथा 'एस' से शुरू होते हैं। यह तुम्हारे माँ-बाप की गलती थी कि तुम्हारा नाम उन्होने 'आर' तथा 'एस' पर रखा। अभी जो कैदी छूट रहे है वे 'ए' सीरिज के हैं। जब तुम्हारा वर्ण आयेगा तो तुम भी अपने आप और अनायास ही छूट जाओगी।

मशीन की तरह सोचने वालो का यह जो वर्ग बना है वह 'ब्यूरोक्रेट्स' का वर्ग है जो दोगला है। मनुष्य और मशीन के सगम से बना हुआ जिस मे मानवीय सवेदनशीलता नही है। हम दुनिया को भी एक बडी मशीन की की तरह समझते हैं। सूरज आग का एक बडा गोला है जिस मे इतनी ऊर्जा चलती है; जीवन की 'फीजियोलोजी' को भी समझते है तो उसे 'ह्यूमन मशीन' कहते हैं। और फिर हम 'इनटेक' और 'आउटपुट' की भाषा बोलते हैं। उस का सारांश यही होता है कि 'ऐफीसियेन्सी' और 'एक्यूरेसी' तो साइंस ने हमे दी लेकिन उस से मनुष्य मे जो सवेदनशीलता है वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। और जहाँ सवेदनशीलता समाप्त होती है वही विमानवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। तो अगर हमे परम्परा को समझना है तो परम्परा की विचार शैली को अपनाना होगा। इसी से यह समझ में आयेगी। और परम्परा को समझने की विचार शैली है 'हायर वैल्यू' के सन्दर्भ मे 'लोवर वैल्यू' को समझना। गीता के पन्द्रहवें अध्याय का प्रथम श्लोक है—

ऊर्ध्वमूलमध. शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ॥

मूल जड़ ऊपर चेतना मे है और शाखाएँ नीचे जडता की तरफ चेतना से नीचे

उतरते हैं, हायर वैल्यूज से लोवर वैल्यूज में तो उस में हमारा स्थान कहाँ है ? उसे भी हमें ठीक से समझना चाहिए । मैं इस सम्बन्ध मे एक दो ग्रन्थो के आधार पर अपनी बात रखना चाहता हूँ। कुमारस्वामी ने एक जगह लिखा है कि सारी हिन्दू परम्परा को, वेदमूलक परम्परा को समझना हो तो एक गीता ही काफी है । वह एक 'हैण्ड बुक' है । उस में सारा भारतीय चिन्तन घनीभूत रूप मे आया है । तो एक तो मैं उस का हवाला देता हूँ । इस के अतिरिक्त परम्परा को समझने के लिए मैं तुलसीदास को भी बहुत महत्त्व देता हूँ और फिर महात्मा गान्धी को ।

रामचरितमानस के प्रारम्भ मे ही तुलसीदास ने बता दिया है कि परम्परा से उन का आशय या अभिप्राय क्या है । वे कहते है—

> नानापुराणनिगमागमसम्मत यद्
> रामयणे निगदितं क्वचिन्यतोऽपि ।
> स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
> भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

भारतीय परम्परा कोरी वेदो से बनी हुई नही है । वेदमूलक अवश्य है पर कोरी वेदों से नही है । उस मे आगम का, तन्त्र परम्परा का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । आगमो की परम्परा और निगम की परम्परा मिलकर एक पूरी की पूरी भारतीय परम्परा है । अपनी पूरी जटिलता और सम्पूर्णता के साथ । इस मे कुछ बुनियादी बातें हैं और किसी-किसी मे कही पर ज्यादा आग्रह है । प्रत्येक परम्परा मे तीन दृष्टियाँ होती हैं । प्रथम उस की विश्व-दृष्टि क्या है, द्वितीय समाज दृष्टि और इतिहास-दृष्टि क्या है और तीसरी उस की जीवन-दृष्टि क्या है ? ये तीनो दृष्टियाँ अगर किसी परम्परा में हो तो वह सम्पूर्ण परम्परा कहलाती है । जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन मे जीवन दृष्टि पर मुख्य जोर है । और वैदिक और तान्त्रिक परम्पराओ मे विश्व दृष्टि पर अधिक जोर है, सामाजिक दृष्टि पर केवल वैदिक परम्परा में जोर है । ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि इसी में है, दूसरों मे नही । और ये तीनो दृष्टियाँ बन कर कुछ मूलभूत बातें बनती हैं ।

मैंने गान्धी का हवाला दिया था । गीता का और तुलसीदास का भी हवाला दिया था । एम. एन. राय गान्धी के बहुत बड़े आलोचक रहे किन्तु गान्धी की मृत्यु पर उन्होंने जितनी तीव्र सहानुभूति के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की उतनी उस वक्त भारत के किसी भी पत्र के सम्पादक या लेखक ने नहीं की ।

बहुत ही तीव्र संवेदना के साथ उन्होंने कहा था कि गान्धी भारतवर्ष की सम्पूर्ण परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। उस में उस की मोरल स्ट्रीम भी शामिल है और घोर इरेशनेलिटी भी शामिल है। भारतीय जनता के इरेशनल और मोरल दोनों पहलुओं का समग्रता के साथ प्रतिनिधित्व करने वाला यह एक ही व्यक्ति था और उस व्यक्ति में सब से बड़ी चीज थी व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व देना। मैं कहूँगा कि गान्धी परम्परा के मोड ऑफ थॉट के प्रतिनिधि थे।

लेकिन इस पर और विचार से पहले हम वैज्ञानिक परम्परा को ले लेते हैं। इस की एक दार्शनिक रूप रेखा देने की मार्क्स ने कोशिश की थी। मार्क्स ने एक विश्व दृष्टि दी एक इतिहास दर्शन दिया और समाज दृष्टि दी पर जीवन दृष्टि नहीं है उस में। उस की जो विश्व दृष्टि है वह भौतिकवादी है। यह शब्द तो ठीक नहीं है। जड़वादी कहना ज्यादा उचित मालूम होता है। द्वन्द्वात्मक जड़वादी दृष्टि है उस की और उस ने स्वयं कहा है कि पहले के जड़वादी दो प्रकार के हुए हैं एक वल्गर या कुत्सित जडवादी जिन का प्रतिनिधित्व हमारे यहाँ चार्वाक करता है। कई लोग गलती से जोश में चार्वाक को उस परम्परा में मान लेते हैं। चार्वाक की दार्शनिक परम्परा कुत्सित जड़वाद है। जहाँ वह कहता है कि 'यावद् जीवेत् सुखम् जीवेत्। ऋण कृत्वा घृतम् पीवेत। भस्मिभूतस्य शरीराणा पुनरागमेपित।' जीओ, मजे से जीओ। कर्ज करके घी पीओ। मरने पर जला दिए जाओगे फिर कहाँ का आना जाना। इसलिए जो कुछ है वह दैहिक सुख में है। इस प्रवृत्ति को मार्क्स ने कुत्सित जड़वाद कहा है। इस के बाद जड़वाद का जो फेज है वह है मैकेनिकल या यान्त्रिक जड़वाद। मैटर बुनियादी पदार्थ है और इस की क्रिया प्रतिक्रिया यान्त्रिक है। सृष्टि में जो कुछ दिखाई देता है वह सब परमाणुओं का संघात है। उसी से रूप बनता है उसी तरह जीवन बनता है मनुष्य बनता है। अठारवीं शताब्दी में इस व्याख्या का बहुत जोर था। उर्दू में एक शेर है—

जिन्दगी क्या है, अनासिर में जहूरे तरतीब,
मौत क्या है, इन्हीं अजजा का परीशा होना।

परमाणुओं में एक व्यवस्था और तरतीब आ जाने से जिन्दगी है। और ये बिखर गए तो मृत्यु है। मार्क्स ने इसे स्वीकार नहीं किया। उस ने कहा यह 'बैकवर्ड' है, अपर्याप्त है। उस ने कहा कि जड पदार्थ द्वन्द्वात्मक है और अनवरत गतिशील है और उस जड़ पदार्थ का कोई भी हिस्सा अणु या परमाणु एक

दूसरे से कटा हुआ या अलग-थलग नहीं होगा। इसलिए आकृतियाँ प्रकृतियाँ और उन के गुण धर्म आकस्मिक और यान्त्रिक संघात मात्र नही है बल्कि विश्व का परम मूल जड़ पदार्थ अद्वितीय और अनवरत गतिशील है और उन के अन्तर्गत अनन्त और असंख्य आकार प्रकारों में निरन्तर परस्पर विरोधी दिशाओ में जाने की प्रवृत्ति तथा परस्पर व्याघात गतियों का संघर्ष पाया जाता है। और इस में जड़ पदार्थ के एक रूप और अवस्था से दूसरे रूप और अवस्था मे अतिक्रमित होने की अनवरत प्रक्रिया अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। जड़ पदार्थ जब एक स्थिति में किसी एक सुनिश्चित रूप में पाया जाता है तब इसे प्रसिद्ध दार्शनिक हेगेल की भाषा में थीसिस या स्थिति कहते हैं और उसी स्थिति में अन्तर्निहित उन की विरोधी और व्याघातिक स्थिति जब धीरे-धीरे उस पदार्थ के उस पूर्व रूप के लिए विध्वंस के चरम बिन्दु पर पहुँचती है तो इसी को 'एन्टीथीसिस' या क्रान्ति का घटित होना कहते हैं। परन्तु जड़ पदार्थ मे यह विघटन या विध्वंस ही नही है इस के परिणामस्वरूप वह एक नवीन संस्थिति को उपलब्ध होता है जिस में गति और स्थिति एक अभिनव सामंजस्य को प्राप्त करती है। इसी को 'सिंथेसिस' कहते हैं।

इस प्रकार मार्क्स एक निश्चित व्याख्या पद्धति देता है जिसे पदार्थ की 'डायलेटिक्स' कहते हैं और यह पद्धति प्रकृति मे सहज स्वाभाविक ढंग से प्रत्येक क्षेत्र मे कार्य कर रही है और निम्नकोटि के गुण से उच्च कोटि के गुण का उत्कर्ष जिसे दूसरे शब्दों मे विकास कहा जाता है इसी प्रक्रिया का परिणाम है। यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया सुनिश्चित सार्वभौम सार्वकालिक और अनिवार्यतः अवश्यम्भावी है। इसी प्रक्रिया के अनुसार जब मानव समाज के स्वरूपों और सम्बन्धों के विकास की व्याख्या की जाती है तब उसे ऐतिहासिक जड़वादी व्याख्या कहा जाता है। इस व्याख्या का निष्कर्ष यह होता है कि मानव समाज की विकास यात्रा मे अन्तर्निहित स्थिति, गति और संघर्ष की परस्पर विरोधी प्रक्रिया किसी समय अपनी विरोधी मात्रा के चरम बिन्दु पर परिपक्व होकर क्रान्ति के लिए परम बिन्दु तक पहुँच जायेगी तो विस्फोट होकर क्रान्ति का घटित होना अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो जायेगा।

प्रश्न यह होता है कि इस प्रक्रिया मे व्यक्ति, मानव का क्या स्थान है? यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मानव एक आत्मचेतनायुक्त प्राणी है और उस मे किसी भी कर्म को करने से पूर्व सजग निर्वाचन की स्वतन्त्रता 'फ्रीडम ऑफ च्यायस' एक ऐसा गुण है जो उसे अन्य प्राणियो से अलग करता है। यह निर्वाचन स्वा-

तन्त्र प्रत्येक मनुष्य को 'कर्तुम, अकर्तुम, अन्यथाकर्तुम' (चाहूँ तो करूँ, चाहूँ तो न करूँ और चाहूँ तो अन्यथा करूँ) का सामर्थ्य देता है और मनुष्य इसे अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। मार्क्स के अनुसार मानव समाज और उस का इतिहास जड़ प्रक्रिया के द्वन्द्वात्मक विकास की अनिवार्य परिणति है और उस मे व्यक्ति मानव के स्वतन्त्र निर्णय की कोई गुंजाइश नही है लेकिन स्वयं मार्क्स क्रान्ति की व्याख्या करने के लिए अपने ही चिन्तन का द्रविड़ प्राणायाम करते हुए मानव स्वतन्त्रता की एक अनूठी व्याख्या करता है। वह कहता है कि 'फ्रीडम इज द नॉलेज ऑफ हिस्टोरिकल नेसेसिटी।' ऐतिहासिक आवश्यकता का ज्ञान हो जाना ही मनुष्य की स्वतन्त्रता या मुक्ति है। इस मे उस पुराने वैदिक वाक्य की अनुगूँज का एहसास होता है जिस मे कहा गया है कि ऋत के ज्ञान के बिना मुक्ति नही है। 'ऋतं ज्ञानान न मुक्ति।' मार्क्स के अनुसार इतिहास की गति जब किसी बिन्दु पर आकर अवरुद्ध हो जाती है तो उस अवरुद्धता के स्वरूप और उस को तोडने की पद्धति का ज्ञान मनुष्य को ऐतिहासिक आवश्यकता के अज्ञान से मुक्त करता है। और जब यह ज्ञान हो जाता है कि अवरुद्ध प्रक्रिया को इस प्रकार से गति दी जा सकती है कि वह नेतृत्व के माध्यम मे क्रान्तिकारी जनता में अजगता से सजगता का रूप धारण कर ले और इतिहास की प्रक्रिया मे उस क्रान्तिकारी नेता के साथ सहयोग कर के चरम बिन्दु पर पहुँचे हुए अवरोध का विस्फोट कर दे तो क्रान्ति घटित हो जाती है। क्रान्तिकारी नेता क्रान्ति का निर्माण नही करता। वह तो इतिहास की स्वाभाविक क्रिया के अनुसार ही घटित होती है। लेकिन मनुष्य समाज मे घटित होने वाली क्रान्ति को सजग मानवीय नेतृत्व के माध्यम से जन सहयोग की आवश्यकता होती है और यही इतना मात्र ही व्यक्ति मानव अर्थात् क्रान्तिकारी नेता के निर्णय का और उस की व्यक्तिगत चेतना के उपभोग का मूल्य है जब क्रान्ति घटित होकर नयी व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तब उस नेता को इतिहास का निर्माता मान लिया जाता है। वास्तव मे तो वह ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का निमित्त मात्र ही होता है परन्तु यह निमित्त अजग नहीं बल्कि सजग या सचेतन होता है। यही बात गीता मे कृष्ण अर्जुन से कहते हैं 'निमित्त मात्र भव्य सव्य साचिन्।' तो मार्क्स भी कहता है कि निमित्त बनने की आवश्यकता है। और जो निमित्त बनता है इतिहास का निर्माता बन जाता है। लेनिन को, इतिहास के देवता को यह इलहाम हुआ और उस ने देखा कि या तो क्रान्ति कल होगी और नही हुई तो फिर नही

होगी। तो वह निमित्त बन गया। उस ने नेतृत्व दिया और रूस में क्रान्ति घटित हो गई। यह मार्क्सवादी व्याख्या है।

एम. एन. राय वर्षों तक लेनिन के साथ रहे थे। वह प्रारम्भ में मार्क्सवादी थे लेकिन धीरे-धीरे उन की सारी धारणाओं में बदलाव आ गया और उन्होंने रेडिकल ह्यूमेनिज्म के नाम से अपनी विचारधारा रखी। एम. एन. राय ने इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से इन्कार करते हुए कहा कि यह इतिहास की विकृति है। इस के साथ ही उन्होंने मार्क्स की फ्रीडम की परिभाषा से इन्कार किया कि 'नॉलेज ऑफ हिस्टोरीकल नेसेसिटी' सही परिभाषा नहीं है। एम. एन. राय की स्वतन्त्रता की परिभाषा यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति में निहित नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक सम्भावनाओं की अभिव्यंजना में विचार, वाणी और कर्म के द्वारा आने वाली सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक बाधाओं का निराकरण स्वतन्त्रता है। जितना वह निराकृत होता है उतना ही स्वतन्त्रता का विकास होता है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के बारे में उन का मत था कि मार्क्स ने इस प्रक्रिया को यूनान के दार्शनिकों से लिया है। यूनान के दार्शनिकों में डायलाग की परम्परा रही। डायलाग से डायलेक्ट बना है। वाद और प्रतिवाद से संवाद बनता है। राय ने कहा कि यह तो मनोविज्ञान की प्रक्रिया है जिसे एम. एन. राय 'जेस्टाल्ट प्रोसेस' कहते थे। 'जेस्टाल्ट प्रोसेस' का तात्पर्य है समग्र के सन्दर्भ में अंश को देखना और समझना। उदाहरण के तौर पर मैं इस दीवार की ओर देखता हूँ तो धब्बे धब्बे महसूस होते हैं और मैं इन धब्बों का घोड़ा बना लेता हूँ, ऊँट बना लेता हूँ तो इस प्रकार जेस्टाल्ट प्रोसेस होता है। बादलों को देखते हैं तो हमारे मन में बहुत जेस्टाल्ट काम करता है। कई शक्लें हम बना लेते हैं। तो उन्होंने कहा कि यह मन की प्रक्रिया है, जेस्टाल्ट प्रक्रिया है। वस्तुतः जगत को समझने के लिए पहले जेस्टाल्ट एक समग्र आकार बना लेते हैं और उस समग्र आकार के पेटे में चीजों को फिट करके देखते हैं। राय ने कहा कि इतिहास को देखने समझने का सही तरीका 'जेस्टाल्ट प्रोसेस' है। और 'जेस्टाल्ट प्रोसेस' को देखते हैं तो पाते हैं कि उस में व्यक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है।

व्यक्ति की महत्ता और गरिमा की स्थापना एम. एन. राय की विचार धारा की सब से महत्त्वपूर्ण देन है। मार्क्सवाद में व्यक्ति करीब-करीब मशीन के पहिए के दाँतें की तरह बन गया था। इतिहास में उस का कोई अस्तित्व नहीं था। इतिहास के देवता के आगे बली चढ़ने वाले बकरे से अधिक उस का अस्तित्व

नहीं था अथवा मशीन के एक पुर्जे की तरह उस का अस्तित्व था। राय ने कहा कि जेस्टाल्ट प्रोसेस मे व्यक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। मैं एम. एन राय की अधिकांश बातो से प्रभावित हूँ। उन से मिलने का, बात करने का सौभाग्य भी मिला है। दत्तात्रेय के सताईस गुरु हुए। उसी तरह मेरे भी कई गुरु हैं। उन में से एक गुरू मैं उन को भी मानता हूँ। उन के 'ट्वेन्टी-टू थीसिस' के चौथे प्रमेय मे कहा गया है कि एक नियमानुवृति प्रक्रिया की पृष्ठभूमि से विकसित होने के कारण मनुष्य मूलतः बौद्धिक है। यह तो 'इन्डेक्टिव लॉजिक' की बुनियादी मान्यता है कि सारी प्रकृति एक नियमानुवृति प्रक्रिया है और मनुष्य ऐसी नियमानुवृति प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अतः बौद्धिकता या तर्कशीलता उस का अनिवार्य गुण है। आखिरी दिनों मे एम. एन राय से जब एक दिन बातचीत करने का अवसर मिला तो इस प्रमेय पर भी बातचीत हुई। राम गोपाल जी मोहता भी मेरे साथ थे। उन्हें भी यह प्रमेय अधूरा लगता था। मैंने राय से कहा कि इस में कुछ जुड़ना चाहिए। मेरा सुझाव था कि 'लॉ गवर्नड्' तो ठीक है पर मैं इसमे 'क्रिएटिव' शब्द जोड़ना चाहता हूँ। 'राइजिंग आउट ऑफ द बैकग्राउण्ड ऑफ द क्रिएटिव लॉ गवर्नड् फिजीकल नैचर....' 'लॉ गवर्नड्' तो 'रिपिटेटिव' है—केवल पुनरावृति होती है। पर यदि वह सृजनात्मक है तो उस मे नये-नये मूल्यो का नये रूपो का सृजन होता हूँ। विश्व एक निरन्तर अभिनव सृजन है क्योकि अगर सृजन नही है तो विकास की व्याख्या नही होगी। पर वह एम. एन राय के जची नही। मेरे साथ राम गोपाल जी मोहता थे उन्होने राय से कहा था कि आप बैकडोर आदर्शवादी हैं। क्योकि आप आदर्शवाद मे सिंहद्वार से प्रवेश नही करके पिछले दरवाजे से आना चाहते हैं। बाद मे राय अधिक दिन तक नही रहे लेकिन वे एक गतिशील व्यक्तित्व के धनी थे और मेरी धारणा है कि वह चार पाँच साल और जीवित रहते तो आदर्शवाद को भी इतना संगत रूप देते जितना शायद राधाकृष्णन आदि भी नही दे सके।

ये सभी दृष्टियाँ आधुनिकता का परिणाम हैं। और इस के बरक्स है परम्परागत दृष्टि जिस का विवेचन विशेष रूप से गीता में मिलता है। पहले परम्परा तो समझ लें। गीता का एक-एक अध्याय ब्रह्म विद्या का एक-एक अध्याय है। गीता के प्रत्येक अध्याय मे आता है 'ब्रह्म विद्यान्तर्गत'। ब्रह्म विद्या पूरी की पूरी एक परम्परा है और इस के अन्दर ही अठारह प्रकार के योग हैं। श्री कृष्ण चौथे अध्याय मे कहते हैं कि यह योग मैंने सूर्य को कहा था। सूर्य ने मनु को

कहा, मनु ने इक्षवाकु को कहा और यह परम्परा से चला आ रहा था। जो काल पाकर नष्ट हो गया। जिसे मैं मेरे माध्यम से पुनर्जीवित कर रहा हूँ। परम्परा का यह मतलव है। परम्परा का मतलव सामाजिक रूढ़ियाँ नहीं है। जिसे हम ज्ञान विज्ञान परम्परा कहते हैं। वह सिद्धान्त परम्परा है। परम्परा यह मानती है कि वेद कुछ चीजो मे अन्तिम प्रमाण है। अन्तिम सत्य के विषय मे अक्सर चर्चा होती है। वेद ऐसा मानता है या वेद के मानने वाले ऐसा मानते हैं कि अन्तिम सत्य और धर्म इन दो के विषय मे न कोरा पर्यवेक्षण काम दे सकता है और न तर्क या अनुमान काम दे सकता है। और न ही प्रयोगशाला के परीक्षण काम दे सकते हैं। वहाँ तो अथोरिटी जरूरी है। निरीक्षण और प्रयोग से कोई बात सिद्ध होती है वहाँ वेद की कतई आवश्यकता नही है। लेकिन जहाँ किसी तरह तर्क की पहुँच नही हो, प्रत्यक्ष की पहुँच नही हो, प्रयोग की पहुँच नही हो, उस जगह वेद के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। लेकिन उसे पहले कैसे माने, तो कहा गया है कि पहले 'प्रिजम्पशन' की तरह माने। हम गणित में कुछ चीजें प्रज्युम करके चलते हैं और फिर उस से सवाल हल करते हैं। और सवाल हल हो जाता है तो कहते हैं कि 'प्रिजम्पशन' सही था। 'प्रिजम्पशन'की पुष्टि सवाल हल होने में है तो उसे पहले प्रिजम्पशन की तरह मे ही मानो। पहला 'प्रिजम्पशन' तो यही है कि सत्य त्रिकाल से अबाधित है। यह सत्य की परिभाषा है। सत्य की भारतीय परम्परा की परिभाषा यह है कि जो हमेशा था, हमेशा है और हमेशा रहेगा। लेकिन यह भी तो काल से निर्देशित भाषा है जो आधार है वह सत्य है और इसीलिए त्रिकालाबाधित है। फिर यह सत्य परम या पूर्ण होता है लेकिन तथ्य पूर्ण नही होता। सत्य और तथ्य मे अन्तर होता है। सत्य पूर्ण है और अपरिवर्तनशील है जबकि तथ्य का हमेशा परिवर्तन होता रहता है वह हमेशा सापेक्ष है और उस के कई आयाम होते हैं।

तो वैदिक परम्परा का पहला प्रिजम्पशन यह है कि सत्य पूर्ण है और दूसरा यह है कि यह सारा ब्रह्माण्ड है ऋत से अनुशासित है लॉ गवर्नड् है। सत्य और ऋत दोनो वैदिक परम्परा के शब्द है तो सारा विश्व एक क्रमबद्ध व्यवस्था है। देश क्रम, कालक्रम और घटनाक्रम तीन तरह के क्रम होते हैं। विश्व एक क्रमबद्ध व्यवस्था है जिस मे तीनो तरह के क्रम समवद्ध है। फिर मनुष्य की परिभाषा का सवाल उठता है। उस की अलग अलग उपयोगी शास्त्रो में अलग अलग परिभाषाएँ हो सकती है लेकिन ये संस्कृति के काम की नहीं है।

संस्कृति की दृष्टि से जो परिभाषा है उस मे मनुष्य को ही नही चर-अचर सभी को मूलतः जीवात्मा माना गया है। और शरीर आदि उन की उपाधियाँ है इसी लिए मनुष्य के शरीर की उपाधि गाय या घोड़े आदि के शरीर की उपाधि से भिन्न है। जीवात्मा एक सरीखा है पर इस उपाधि मे ही विशिष्टताएँ है। तो एक तो इस तरह से परिभाषित करते हैं कि मनुष्य मूलतः जीवात्मा और मानव शरीर उस की उपाधि है इसी तरह दूसरो की दूसरी उपाधियाँ हैं। ये उपाधि दूसरी उपाधियो की अपेक्षा उत्कृष्ट उपाधि है और वह उत्कृष्ट इसीलिए है कि उस मे चेतन अद्वितीय हो जाता है प्रत्येक चेतन अद्वितीय बनता है। उस की जो सम्भावना व्यक्त होती है वह दूसरों की नकल मे वर्गीकृत नही हो सकती अगर सही अर्थ मे उसे विकसित होने दिया जाए तो वर्गीकरण सिकुड़ते सिकुड़ते वह अकेला या अद्वितीय हो जाता है जिसे जैन भाषा में 'केवली' कहते हैं। उस के जोड़ का कोई नही मिलता चालू मुहावरे की भाषा मे कहते हैं कि यह व्यक्ति फ़र्द है। यह फर्द होना ही जिस का किसी तरह वर्गीकरण नही हो सके, मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य उपाधि मे आकर हर जीवात्मा अद्वितीय होता है। पर उस से पहिले वह वर्गीकृत होता है, उस का वर्गीकरण हो सकता है,वह झुण्डो मे बाँटा जा सकता है। यहाँ यह भी समझ लेने की जरूरत है कि 'ईगो' या अहम् जीवात्मा नही है। जीवात्मा जीवन का केन्द्र है। जागने और स्वप्न की अवस्था मे तो 'ईगो' काम कर रहा है और नींद मे या मूर्छा मे 'ईगो' लीन हो जाता है लेकिन जीवन का केन्द्र वहाँ भी सक्रिय रहता है। जीवन का केन्द्र जिस समय विलीन होता है उस समय मृत्यु हो जाती है। अब जीवन के केन्द्र को लेकर हमारी परम्परा में कुछ विचार वैभिन्य है। जैन और सांख्य परम्परा यह मानती है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन केन्द्र अलग-अलग है अन्ततः विभिन्न है जबकि बौद्ध और वैदिक परम्परा यह मानती है कि अन्तिम रूप मे यह विभिन्न नही है। संवेदनात्मक अनुभव के स्तर पर एम्पीरीकली जुदा–जुदा है पर वास्तव मे वह कही भी रुका हुआ नही है और हर जगह है। जैसे आकाश कोई अलग-अलग नही हैं लेकिन इस कमरे की दीवारो की उपाधि से समझने के लिए उस का काम चलाऊ विभाजन कर लिया जाता है उसी तरह एक शरीर के केन्द्र का होने से उस का काम चलाऊ विभाजन कर लिया जाता है। तो मनुष्य की यह परिभाषा बताती है कि मनुष्य का, जीवन का प्रयोजन उस के जीवन के केन्द्र का अधिक से अधिक विकास है और मनुष्य के जीवन केन्द्र की क्षमताओ के विकास की कोई भी सीमा नही है।

अब देखें कि यहाँ परम्परा क्या कहती है। बार-बार आक्षेप किया जाता है कि वैदिक परम्परा में तो शब्द प्रमाण है और शब्द प्रमाण मानेंगे तो हमारा तर्क आगे कैसे चलेगा। प्रत्यक्ष आगे कैसे चलेगा। मैं पहले कह चुका हूँ कि प्रत्यक्ष तर्क को भी खूब चलाइए लेकिन जहाँ उस की पहुँच की गुंजाइश नहीं हो वहाँ पर 'अथॉरिटी' को लीजिए। लेकिन 'अथॉरिटी' के लिए भी परम्परा है। चार प्रमाणों के आधार पर किसी बात को स्वीकार कीजिए। पहली है श्रुति जिसे वेद का प्रमाण कहते हैं। दूसरी है युक्ति–युक्तिहीन श्रुति मान्य नहीं है। बुद्धि के द्वारा भी श्रुति का समर्थन होना चाहिए और तीसरी बात है व्यक्तिगत अनुभव। आप का अनुभव अगर किसी बात के विरोध में जाता है तो उसे मत मानिए। चौथा है आप्त वाक्य या एक्सपर्ट एवीडेन्स। आप्त वाक्य किसी बात का समर्थन करता है कि नहीं। अब उपनिषद् की एक बात युक्ति से ठीक लगती है और व्यक्तिगत अनुभव भी उसे ठीक बताता है पर उस के लिए, वेद के लिए आप्त वाक्य या 'एक्सपर्ट एविडेन्स' यहाँ से लाएँ। तो महावीर का साक्ष्य 'एक्सपर्ट एविडेन्स' है, क्राइस्ट, मोहम्मद आदि का साक्ष्य 'एक्सपर्ट एवीडेन्स' है। उन सभी से अगर कोई चीज़ समर्थित होती है तो वह मान्य है और प्रामाणिक है। शंकराचार्य तो वैदिक परम्परा के सब से बड़े समर्थक थे। उन का एक वाक्य है "तात्पर्यवर्ती श्रुति प्रमाणम् न शब्द मात्र:" अर्थात् जो श्रुति यानी वेद वाक्य जीवन और जगत् के उद्देश्य को बताता है वही वाक्य प्रमाण है।

वेदान्त में इन चीजों का थोड़ा वर्णन है। चार वाक्य हैं जिन्हें तात्पर्य वाक्य या 'महावाक्य' कहा जाता है। उस में पहला वाक्य है 'विज्ञानम् ब्रह्म'। यह जो अन्तिम सत्य है जिस को ब्रह्म कहते हैं वह चेतन है, विज्ञान है, कौन्शियसनेस है, पूर्ण चेतन है। सत्य पूर्ण चेतन है और पूर्ण चेतन जो अलुप्त प्रकाश है। अलुप्त प्रकाश ऐसी चेतना है जो कभी निश्चेतन नहीं होती और यही सत्य है। फिर दूसरा महावाक्य है अपनी ओर अंगुष्ठ निर्देश करके कहता है- 'अयमात्मन् ब्रह्म' यह जो आत्मा है वह ब्रह्म है। यह निर्देश शरीर की ओर नहीं है शरीर में तो परिवर्तन होता रहता है, अतः यह सत्य नहीं है। वह ब्रह्म कैसे हो सकता है। ब्रह्म तो वह है जो सदैव है और चेतन है और वह हमारी प्रत्यभिज्ञा है। कालिदास का एक नाटक है 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'। अभिज्ञान का मतलब है भूली हुई बात का होश आ जाना। तो यह जो हमारी 'प्रत्यभिज्ञा' बनती है वह अलुप्त चेतना ही है जिस ने कई मोड़े

देखली, कई जागरण देख लिए कई स्वप्न देख लिए और जो अपरिवर्तनशील है। यह जो अपरिवर्तित साक्षी है, चैतन्य है, वही ब्रह्म है—'अयमात्मन् ब्रह्म'। अब सवाल उठता है कि अयम् आत्मा कौन है। तो गुरू कहता है कि वह तू है और तू वही तो है तेरे मे ही तो यह साक्षी चेतना है तेरी वास्तविकता यह साक्षी चेतना है और जब उसे यह 'रियलाईजेशन' हो जाता है कि वह साक्षी चेतना है, कर्ता नही है भोक्ता नहीं है और वह इस कर्ता और भोक्ता का भी साक्षी है तब वह कहता है 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही वह अलुप्त प्रकाश साक्षी चेतना हूँ तो वेद यहाँ 'अथॉरिटी' है। तुम्हारा जो अन्तिम सत्य है उस को तुम 'रियलाइज' कर लो। तब सवाल उठता है कि शरीर क्या है ? शरीर तथ्य है। सत्य और तथ्य मे फर्क करना जरुरी है। तथ्य निरन्तर बदलता रहता है। सब तथ्य बनते बिगड़ते है। घटनाएँ हैं, वस्तु है, व्यक्ति है ये सब तथ्य हैं। परम्परा कहती है कि यह जो तथ्यो का संसार है वह भव सागर है—'ओशन ऑफ बिकमिंग' भव यानी 'बिकमिंग' यह सारा बिकमिंग ही तो है। 'मेरा शरीर भी बिकमिंग' है दूसरे का शरीर भी बिकमिंग है सारी चीजें जो बनी और बिगड़ी, जो बदलती रही वे सब 'बिकमिंग हैं और 'बीइंग' वह जो बदलता नही है तो चेतना या आत्मा बीइंग है और शरीर मस्तिष्क आदि सभी 'बिकमिंग' है।

लोकायन, दिल्ली द्वारा बीकानेर में आयोजित एक साक्षात्कार-गोष्ठी मे दिए गए व्याख्यान का किंचित संशोधित रूप।

भारतीय परम्परा : आधुनिक समाज

आज जितनी समस्याओं पर हम विचार कर रहे हैं वे संस्थागत और व्यवस्थागत हैं। हरेक संस्था की एक व्यवस्था होती है। राज्य, परिवार, स्कूल, विश्वविद्यालय भी एक संस्था है। हर व्यवस्था के पीछे एक आस्था होती है। उसे आस्था कहिए या मान्यता। इस के आधार पर उद्देश्य बनता है, नियम बनते हैं और उस के आधार पर व्यक्ति व्यवहार करते हैं। तो उस की जड़ में व्यक्ति है। संस्था और व्यवस्था व्यक्ति की, व्यक्ति के द्वारा, व्यक्ति के लिए होती है और हमारे संविधान में भी जो प्रभुसत्ता है वह संस्था और व्यवस्था की न होकर व्यक्ति की है और लोकतन्त्र की जड़ व्यक्ति है। लोकतन्त्र सिर्फ राजनैतिक लोकतन्त्र नहीं होता है। वह लोकतन्त्र सामाजिक–सांस्कृतिक लोकतन्त्र भी है यह हमारी परम्परा का खास निष्कर्ष है। व्यक्ति जीवात्मा और उस के लिए यह सारी संस्था और व्यवस्था है। कारण व्यक्ति है। सारी अव्यवस्था का कारण व्यक्ति में निहित है। सुधार का कारण भी व्यक्ति में निहित है। मैं जिस परम्परा का जिक्र करता हूँ उस को समेटते हुए और उस को एक दूसरे संदर्भ में रखते हुए मैं अपनी बात कहूँगा।

आज से दो हजार पांच सौ साल पहले हमारी जो परम्परा थी वह श्रुति मूलक परम्परा, वेदमूलक परम्परा थी। वह काफी विकृत हो चुकी थी। उस का जो व्यावहारिक क्षेत्र है, वह काफी कठोर और विकृत हो चुका था। उस वक्त नतीजा यह हुआ कि शब्द मात्र श्रुति का प्रमाण हो गया था। यानी जो भी बोल दिया श्रुति ने वही मन्त्र बन गया। वो ही प्रमाणिक और मान्य हो गया। उसी के आधार पर कर्मकाण्ड बढ़ गये और कर्मकाण्ड के नाम पर हिंसा बढ़ गई थी। यह इस देश का निर्णायक युग था। और केवल इस देश का ही नहीं वही समय चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से का था जो हमारे यहाँ बुद्ध और महावीर का समय था और यही वह समय था जब यूनान में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू हुए। तो दर्शन के इतिहासकार उसे 'एक्सिल पीरीयड' कहते

हैं। उस में बुनियादी और मौलिक परिवर्तन हुए थे और उन परिवर्तनों में सारी परम्परा का पुनर्जीवन हुआ था।

भारतवर्ष में ऐसा एक दृष्टिकोण रहा है। और विशेष रूप से ब्राह्मणों का दृष्टिकोण। ब्राह्मण लोग मानते थे कि बुद्ध उच्छेदवादी थे। उन्होंने हमारी परम्परा की जड़ें काटी। लेकिन बुद्ध स्वयं कहते थे कि मैं उच्छेदवादी नहीं हूँ। बुद्ध तो कई स्थानों पर कहते हैं : 'एसधम्मोसनन्तनो'—मैं सनातन धर्म की पुनर्स्थापना कर रहा हूँ। और इसीलिए वह उच्छेदवादी नहीं थे। बौद्ध विचार का यहाँ से चले जाना या उस के प्रभाव का चले जाना इस देश का दुर्भाग्य रहा है। अब देखें कि बुद्ध ने समस्याओं को किस तरह रखा था। बुद्ध के काल में एक तरफ तो वैदिक रूढ़ियाँ थी और दूसरी तरफ करीब अस्सी किस्म के पाखण्ड प्रचलित थे जिसे 'हेरेटिक्स' कहते हैं। 'हेरेटिक्स' का हिन्दी में एक अनुवाद होता है; अपसिद्धान्ती और दूसरा होता है पाखण्डी। शंकराचार्य के अनुसार खण्डित सत्य का पूर्ण सत्य की तरह दावा करना पाखण्ड है। ऐसा नहीं है कि वह सारा ही झूठ होता है। वह जो सत्य का खण्ड पकड़ लेता है और उस का पूर्ण सत्य की तरह दावा करता है वह पाखण्ड होता है। उस समय इस देश में इस तरह के करीब अस्सी किस्म के पाखण्ड प्रचलित थे। आज भी करीब-करीब वैसी ही दशा है। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कई तरह के ऐसे मतवाद प्रचलित हैं जो एक एक अंश को पूर्ण की तरह पेश करते हैं। बुद्ध ने इन सारी परिस्थितियों को समझा। परम्परा को समझने के चार तत्त्व होते हैं: श्रुति, युक्ति, अनुभव और आप्तवाक्य। उस में बुद्ध ने श्रुति और आप्त-वाक्य को निकाल दिया और बड़े साहसपूर्वक यह कहा कि कोई भी चीज इस लिए मत मानो कि वह वेद में लिखी हुई है। श्रुति ऐसा कहती है इसलिए मत मानो। और कोई आप्त होने का दावा करे तो उसे स्वीकार मत करो। लेकिन अनुभव और युक्ति के बारे में उन्होंने यह कह दिया कि अपने जीवन का अनुभव देखो। वहाँ से प्रारम्भ करो और 'रेसनेलिटी'—युक्ति की सहायता से आगे बढो। अपना दीपक आप बनो—आत्म विश्वास के साथ। इस चीज को एक बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने बड़े तीखे शब्दों में बताया है। कई बार ऐसा होता है कि जब सत्य पर झूठ का आवरण छा जाता है तो खण्डन की तीखी भाषा 'इकोनोक्लास्टिक' भाषा नये सृजन के लिए प्रयोग करनी पड़ती है। 'प्रमाणवार्तिक' में धर्मकीर्ति का एक प्रसिद्ध श्लोक है :

वेद प्रमाण्यम् क्वश्चित कृर्तवादः
स्नाने धर्मेच्छा जाति वादा क्लेप।
सन्तापारम्भ पापहानाय चेति,
ध्वस्त प्रज्ञानाम् पंचलिंगानि जाड्य।

उस ने कहा कि जिस की बुद्धि भ्रष्ट हो गई उन जडमतियों के ये पाँच लक्षण हैं। तो बड़ी तीव्रता के साथ उस ने कहा। लेकिन वह सिर्फ़ उच्छेदवादी और खण्डनवादी नहीं है। उस ने समस्याओं की जड़ को तलाशा। उस ने कहा कि मूल समस्या दुःख की समस्या है। और दुःख को उन्होंने कई हिस्सों में बाँट दिया। पहले उन्होंने बताया कि जन्म दुःख है। अभी हमारे यह बात समझ में नहीं आती। अगर मेडिकल साइंस के विशेषज्ञ से पूछें तो कहते हैं कि बच्चा गर्भ की नली में से बाहर निकलता है तो उसे एक बड़ा बर्थ ट्रामा होता है और उस की वजह से उसे आघात लगता है। उसे कई तरह के सपने आते हैं। उन सपनों में उसे लगता है कि वह एक बहुत तंग सुरंग में फँस गया है और उस से निकलने का मार्ग नहीं पा रहा है। बड़ी घबराहट होती है, बड़ी पीड़ा होती है। ये सपने मनोवैज्ञानिक आघात के सपने हैं। उस वक्त के प्रभाव के सपने हैं। तो जन्म दुःख, जरा दुःख, व्याधि दुःख और मृत्यु-दुःख है। चार दुःख हैं। फिर उस ने कहा कि प्रतिकूल का संयोग दुःख है और अनुकूल का वियोग दुःख है। ये जो मैं छः दुःख गिनाता हूँ। चिंटी से लेकर ब्रह्मा तक इन दुःखों से पीड़ित हैं। और इन दुःखों के कारण अनादि काल से जो आँसू बह रहे हैं उन्हें इकट्ठा किया जाय तो शायद कई झीलें, तालाब, सागर भर जायेंगे लेकिन रेशनल तरीके से विवेक से विचार करें कि यह दुःख की जो अनुभूति है यह वास्तविक है या नहीं। दुःख का कुछ कारण है। अगर उस कारण को मिटा दिया जाय तो दुःख मिट सकता है। कारण को मिटाने का उपाय उस ने अष्टांगिक मार्ग दिया। जिसे तीन हिस्सों में बाँट देते हैं—वे हैं—प्रज्ञा, शील और समाधि। यह बुद्ध की रेशनेलिटी थी। उस ने दुःख का हेतु काम को बताया है कि वह तृष्णा है। मॉडर्न साइकोलॉजी में जिसे लिबिडो कहते हैं। तृष्णा को तीन हिस्सों में विभाजित करते हैं—भव तृष्णा, दूसरी है काम तृष्णा और तीसरी है विभव तृष्णा। भव तृष्णा यानि 'अर्ज टू लिव''। विभव तृष्णा यानि 'अर्ज टू पजेज' और काम तृष्णा यानि 'अर्ज टू एन्जॉय''। यह पजेशन चाहे शक्ति का हो चाहे सम्पत्ति का लेकिन इस तृष्णा का मूल कारण क्या है? मूल कारण अज्ञान है। अविद्या ही मूल कारण है।

अब प्रश्न उठता है अविद्या क्या है ? उस ने कहा कि जो बदलता है उसे 'मैं' मान लेना अविद्या है। उस ने कहा कि मनुष्य का व्यक्तित्व निरन्तर बदलता है। निरन्तर बदलता है तो इस में 'मैं' क्या है ? वह तो 'इल्यूजन'–भ्रम–है।

तो बुद्ध इस तरह जड़ में गए। हम इसी तरह समस्याओं की जड़ में जाएँ और उस ने जो तीन कारण दिए है उन्ही को हम सामाजिक सम्बन्धो के सन्दर्भ में देखें। मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध मे 'अर्ज टू लिव' पहली बात है-भव तृष्णा। यह कैसे पैदा होती है ? मैं जिन्दा रहूँ। सिर्फ मैं जिन्दा रहूँ–दूसरे मरें तो मेरी बला से। और जरूरत हो तो दूसरो को मार कर भी मैं जिन्दा रहूँ। इस से समस्याएँ पैदा होती है। परिवार मे, समाज मे, राज्य मे भी। सब जगह होती है। दूसरी है काम तृष्णा 'अर्ज टू एन्जॉय'-मुझे निरन्तर अनुकूलता बनी रहे। चाहे दूसरो को वह मिले या न मिले। और जरूरत हो तो दूसरो को प्रतिकूलता देकर भी मुझे अनुकूलता मिले। तीसरी है विभव तृष्णा 'अर्ज टू पजेज'। जीवन के साधन मुझे मिले। मेरे कब्जे मे रहे। सत्ता मेरी रहे। दूसरे को सत्ता से वंचित करके भी सम्पत्ति पर मेरा एकाधिकार बना रहे। क्योंकि इस की जड़ अविद्या है कि मैं 'एबसल्यूसिवली' स्वतन्त्र हूँ। यह मूल भ्रान्ति है। कोई भी मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र नही होता। हम समाज में रहने वाले सब व्यक्ति आपस में एक दूसरे पर निर्भर हैं। इसलिए हमारी जीवित रहने की इच्छा दूसरो के सहयोग पर निर्भर हैं। एक दूसरे पर हमारे अस्तित्व निर्भर हैं। यह सहयोग तभी हो सकता है जब 'इन्टरडिपेन्डेस' को हम स्वीकार करें और उसी तरह मानें कि दूसरो को दु.खी कर के हम सुखी नही रह सकते। दूसरो को गरीब करके हम अमीर नही हो सकते। दूसरो को सत्ता से वंचित कर के हम सत्ता के स्वामी नही हो सकते।

तो यह भ्रान्ति मिटानी होगी। मैं दूसरो से पृथक हूँ और असम्बद्ध हूँ और स्व निर्भर हूँ। ये अविद्या है, अज्ञान है, मूल भ्रान्ति है। और यही से समस्याओं का उत्पादन शुरू होता है जो चाहे परिवार से सम्बन्धित हो, समाज से सम्बन्धित हो, संस्थागत हों, या कुछ भी हों। आज जो समस्याएँ हैं वे या तो आर्थिक हैं, राजनैतिक हैं या फिर सास्कृतिक हैं। और जितनी समस्याएँ हैं उन की जड़ में यह 'सेन्स ऑफ सेपरेटनेस' है पृथकता का भाव वही है। सांस्कृतिक समस्याएँ इसलिए खड़ी होती हैं कि हमारा सम्प्रदाय बिलकुल सही है और स्व निर्भर है। वही सम्पन्न होना चाहिए। दूसरे झूठे हैं। हमारा खुदा सही है। हमारी नैतिकता ठीक है दूसरो की गलत है। उसी का पोषण होना

चाहिए। उसी तरह राष्ट्रीयता है एक्सक्लूसिव वर्ग की धारणा। चाहे वैयक्तिक हो या सामूहिक यह 'एक्सक्लूसिवनेस' ही समस्याओं को उत्पन्न करती है। और मनुष्य को हम उस का रूट या मूल मानते हैं तो मनुष्य में तीन बातें बुनियादी हैं पहली 'लाइफ' या जीवन। दूसरा उस का बोध— अवेयरनेस और तीसरा उस का भोग—संवित्। यह हमारे संवित् जीवन और बोध इन को हम 'इनक्लूसिव' करें—'एक्सक्लूसिव' नहीं करके इनक्लूसिव करें—तो हमारे बोध का विस्तार होता है। हमारे संवित् का विस्तार होता है जिसे हम संवेदनशीलता कहते है। और जीवन का विस्तार करें तो दूसरों के 'अर्ज टू लिव' में भी हम सहायक हो सकते हैं। तो समस्या की जड़ में ये जो 'एक्सक्लूसिवनेस' है इस को मिटाने के लिए बुद्ध की भाषा मे पहली चीज है सम्यक् दृष्टि। दूसरा है सम्यक् विचार। तो ये जो असम्यक् दृष्टि है वह 'एक्सक्लूसिवनेस'—पृथकता के भाव को है कि दूसरों से हम पृथक हैं। ये सही बात है कि दूसरो से हम भिन्न हैं। हमारा दूसरों से वैशिष्ट्य है। मैं विशिष्ट हूँ। हमारे मे भिन्नता है लेकिन कही भी कटाव नहीं है 'सेपरेशन' नहीं है। यह 'सेन्स ऑफ सेपरेशन' ही भ्रान्ति या 'इल्यूजन' है। इस को हमारे एक दार्शनिक ने अपृथक्शील भिन्नता कहा है। हर एक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है और विशिष्ट है, 'यूनीक' है। लेकिन कोई भी व्यक्ति परिवेश से, चाहे वह सामाजिक परिवेश हो, आर्थिक परिवेश हो, राजनैतिक परिवेश हो, सांस्कृतिक परिवेश हो या प्राकृतिक परिवेश हो, बिलकुल कटा हुआ नहीं है। परिवेश पर वह निर्भर करता है और निरन्तर बीच में आदान-प्रदान चलता है। जैन दर्शन में भी सब से पहले सम्यक् दृष्टि पर आग्रह है। सम्यक् दृष्टि का अर्थ होता है सही दृष्टि और दूसरा अर्थ होता है अखण्ड दृष्टि। और असम्यक् दृष्टि का अर्थ होता है खण्डित दृष्टि। खण्डित दृष्टि 'एक्सक्लूसिव' होती है और अखण्ड की दृष्टि इनक्लूसिव होती है—दूसरो को 'इनक्लूड' करती है। अगर हमारी दृष्टि अखण्ड है, 'इनक्लूसिव' है तो हमारा विचार भी 'इनक्लूसिव' होगा। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् विचार। अब दृष्टि के लिए शब्द काम मे आते हैं एक तो फ़ेथ—आस्था। विचार के लिए 'थॉट' काम मे आता है। और एक शब्द है जिसे अंग्रेजी में 'व्यू' कहते हैं। लेकिन मुझे ठीक शब्द लगता है 'प्रिजम्पशन' या 'एजम्पशन'। मनुष्य 'एज्यूम' कर के चलता है। बिना 'एज्यूम' किए विचार ही नहीं चलते। जैसे वैज्ञानिक यह 'एज्यूम' कर के चलते हैं कि सारा ब्रह्माण्ड एक 'इन्टर-रिलेटेड प्रोसेस' है। हम 'एज्यूम'

कर के चलते हैं कि कल तो सूर्योदय होगा ही। और इसीलिए कल की योजना बनाते हैं। तो ये एक 'एजम्पशन' है। यही सम्यक् आस्था है। और इस 'एजम्पशन' में हमारा यह 'एज्यूम' करना गलत है कि हम तो 'एक्सक्लूसिव' पृथक हैं। ऐसा 'एजम्पसन' खण्डित है। जब कि अखण्ड 'एजम्पसन' में हम परस्पर सम्बद्ध हैं और एक दूसरे से 'इनक्लूसिव' हैं। जीवन एक 'इनक्लूसिव' जीवन है—संविद् एक 'इनक्लूसिव' संवित् है और चेतना एक 'इनक्लूसिव' चेतना है।

हमको यदि यह प्रतीत होता है कि हमारी अनुभूति सिर्फ हमारी ही अनुभूति है तो न तो सृजन हो सकता है, न सम्प्रेषण हो सकता है, न 'मोरेलिटी' का सम्प्रेषण और व्यवहार हो सकता है और न 'मोरेलिटी' की कोई अनुभूति हो सकती है और न ही सत्य का ज्ञान। जिसे हम वैज्ञानिक सत्य कहते है उस को भी अगर हम मान लें कि वह पृथक घटना है तो वह खण्डित है। वह यदि एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई नही है तो प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्धों का कोई 'लॉ' ही सम्भव नही होता। इसलिए इस का जो प्रजम्पसन हैं एकता का—जीवन की एकता, चेतना की एकता और संवेदनाओं की एकता का वह अखण्ड दृष्टि का प्रजम्पसन हैं। और हमारा विचार तो उन का समर्थक होना चाहिए। इसे प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञा के बाद शील आता है जिसे व्यवहार कहते है सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका। वाणी का व्यवहार इस तरह से करें कि वह अखण्डता के प्रजम्पसन के इन्टररिलेटेडनेस के प्रजम्पसन के अनुकूल हो। और उस मे है सम्यक् कर्म का व्यवहार। व्यवहार मे अगर हम एक्सक्लूसिवनेस रखते हैं तो जो होता है उसे आजमा लीजिए। एक्सलूसिवनेस में एक बुराई है कि 'मैं' साध्य हो जाता है और दूसरा साधन जिसे मार्टिन बूबर आदि 'आई–इट रिलेशनसिप' कहते है। कि मैं तो 'आई' हूँ, सजीव हूँ और दूसरा 'इट' है, निर्जीव है। मैं साधन की तरह, वस्तु की तरह इसे इस्तेमाल करता हूँ। यह 'आई-इट रिलेशनसिप' है। एक और 'रिलेशनसिप' होती है जिसे 'आई-दाऊ रिलेशनसिप' कहते हैं। उस मे 'मैं' भी साध्य हूँ और दूसरा भी साध्य है। दूसरे को साध्य समझकर मेरा 'ओरियेन्टेशन' दूसरे की तरफ 'अदर' की तरफ है। और वह मेरा साध्य है, तो मेरा जीवन साधना बन जाता है। केवल मैं ही साध्य हूँ तो यह स्वार्थ की भावना है और इस से संघर्ष उत्पन्न होता है। अज्ञेय ने अपने लेखन मे इस बिन्दु को उठाया है–'मम' और 'ममेतर' के सम्बन्ध के रूप मे। हमारी दृष्टि अहमेतर, अहम्

मे जो इतर है, उस दिशा में हो, वह साध्य और हम साधक बनें। यह तभी होगा जब यह 'एक्सक्लूसिवनेस' 'इनक्लूसिवनेस' बन जायेगी। दूसरों को समेटते हुए जो अखण्ड दृष्टि बनेगी उसी को हम समाज मे अर्थनीति में या शिक्षा के क्षेत्र मे लागू करते हैं। नीति और सृजन पनपते हैं। इसको हमारी परम्परा मे यज्ञ दृष्टि कहते हैं।

समाज मे दो ही नियम काम करते हैं। एक 'लॉ ऑफ एक्सप्लोइटेशन' और दूसरा 'लॉ ऑफ सैकरीफाइस'। शोषण यह है कि मै साध्य हूँ और दूसरा साधन है—'आई-इट' का सम्बन्ध उसी से शोषण होता है। इसके विपरीत 'लॉ ऑफ सैकरीफाइस' में दूसरा साध्य है मैं साधक हूँ। इसीलिए मेरा फर्ज है उस के लिए कुर्बानी करना–अपनी सुविधाओं की, साधनों की, समय की कुर्बानी करना। दूसरो के लिए इन सभी की कुर्बानी को हम बलिदान कहते हैं। इसी के लिए 'यज्ञ' शब्द है। गीता में इस का हवाला आता है, कि 'यज्ञ से अग्नि होती है, अग्नि से धुआँ बनता है और धुएँ से बादल बनता है, बादल से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उपजता है, अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है और उस से मनुष्य के देह का निर्माण होता है। लेकिन आजकल के कर्मकाण्डी यज्ञ का अर्थ केवल कर्मकाण्ड से लेते हैं। वह यज्ञ नही है। सारे ब्रह्माण्ड का परस्पर सम्बन्ध यज्ञ है। उस मे दिया है कि यज्ञ करने से वर्षा होती है और यह अन्धविश्वास फैला दिया कि ऐसा कर्मकाण्ड होने से वर्षा होती है। वास्तव मे ऐसा नही है। वास्तव मे तो सूर्य यज्ञ करता है। सूर्य समुद्र मे अपनी किरणो का होम करता है उस होम से बादल बनते हैं, बादल अपने शरीर का होम करते हैं और वर्षा होती है और वर्षा से अन्न बनता है। जब अन्न अपने शरीर का होम करता है–उस का यज्ञ होता है–तो उस से बने वीर्य से मनुष्य का जन्म होता है। स्त्री के गर्भ में हवन होता है उसका। इसे पंचाग्नि विद्या कहा गया है।

यज्ञ की यह प्रक्रिया सारे ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया है। और यज्ञ की प्रक्रिया के पीछे आस्था यह है कि जो ममेतर है वह साध्य है। तो यह सार है, यह बलिदान का नियम है। इस मे समाज स्थाई रहता है, देश टिकता है, संस्कृति टिकती है। और यह नही है तो दूसरा शोषण का नियम है। चोरी, डाका, ठगी ये सभी शोषण के ही रूप हैं। और उस मे करने वाला स्वयं को साध्य मानना है। और उसी के लिए हम आमतौर से कहते हैं स्वार्थीपन की भावना या सेल्फीसनैस। तो सारी परम्परा हमारी ट्रेडीशन की ये बनाती है और उस मे यह युद्ध का भी विवेचन है।

उस के बाद एक बात बुद्ध ने ही कही है जो उस से पहले इस परम्परा मे साफ तौर से नही थी। उस ने कहा कि आजीविका भी सम्यक् होनी चाहिए। आपकी कमाई भी ठीक कमाई होनी चाहिए। सम्यक् होनी चाहिए। जिसे हम आज बुर्जवा विचारधारा या पूँजीवाद कहते है उस मे कमाई असम्यक् है। क्योकि उस के पीछे दृष्टि खण्डित है। सिर्फ मुनाफ़े की दृष्टि है जिस मे दूसरे का ध्यान नही है। इस का मैं एक उदाहरण देता हूँ। मैं बहुत छोटी उम्र का था। मेरे पडौस मे एक व्यापारी रहते थे। एक दिन उन्होने मेरी माँ से कहा तुम्हारा यह लड़का गर्मियो की छुट्टियो मे बेकार घूमता रहता है। इस को कुछ पढना लिखना आता है कि नही। माँ ने कहा हिन्दी पढ लिख लेता है। थोड़ी-बहुत अग्रेजी भी जानता है। मेरे पड़ौसी अनाज के व्यापारी थे। बोले कल इसे मेरे साथ भेज देना। अनाज के व्यापारियो की मीटिंग है। उस की कार्यवाही यह हिन्दी मे लिख लेगा। दूसरे दिन मैं उन के साथ सभा मे चला गया। अनाज के सभी व्यापारी उस सभा मे यह रोना रो रहे थे कि इस व्यापार मे मुनाफा कम होता है। इसलिए अन्य वस्तुओं की तुलना मे मुनाफे का प्रतिशत बढा देना चाहिए। मेरे पडौसी व्यापारियो की यह बात सुनकर आग बबूला हो गए और हाथ पकड कर मुझे उठा दिया। मुझ से कहा चलो, यहाँ एक क्षण भी नही रहना। ये लोग तो गरीबो की मूल आवश्यकता पर अधिक मुनाफे की बात कहते हैं। अगर इन को अधिक मुनाफा ही कमाना है तो सोने चान्दी का व्यापार कर लें, कोई और व्यापार कर लें, अनाज का व्यापार न करें। मैं इस पाप मे शामिल नही होना चाहता। यह एक परम्परा और सस्कारो का उदाहरण है। अब तो धीरे-धीरे मुनाफे की वृत्ति बन गई है। उपनिवेशवाद या ईस्ट इण्डिया कम्पनी की चाल से यह दृष्टि हम को मिली। अग्रेज यहाँ व्यापारी बनकर आए थे और उन्होने यह बनिए की दृष्टि हम को दी। तो बुद्ध यह कहते हैं कि मनुष्य की आजीविका भी सम्यक् होनी चाहिए।

यह सब तो उन्होने ले लिए प्रज्ञा और शील मे—'मोरेलिटी' मे। ये बातें दे दी सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार, सम्यक् वाणी, सम्यक् व्यवहार और सम्यक् आजीविका की। ये मोरेलिटी के मूलभूत सिद्धान्त हैं। और तीसरा उस ने दिया सम्यक् समाधि। बुद्ध ने जिस अर्थ मे समाधि का प्रयोग किया वो हिमालय के योगियो की और गुफाओं मे बैठने वालो की और एकान्तवासो की नही है। उस ने तीन हिस्सो मे दिया है—सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति

और सम्यक् ध्यान। इन का उद्देश्य हमारी चेतना और संवेदना को सुसंस्कृत करना है। हमारा जो बोध और संवेदनशीलता है उस को हम संस्कारित करें। अगर हमारा बोध या संवेदनशीलता अच्छी तरह से परिमार्जित और परिशुद्ध नहीं है तो हमारे विचार तो बड़े प्रखर हो जायेंगे, विश्लेषण बड़ा पैना हो जायेगा और वाणी भी बड़ी व्यवस्थित हो जायेगी लेकिन हमारी संवेदनशीलता में थाइठाण बनते जाते हैं जिन में सुई चुभाओ तो भी वेदना नहीं होती और आज मनुष्य की यही समस्या है कि उस की संवेदनशीलता का ह्रास हो गया है। वह भोथरी पड़ गई है और बुद्ध ने इस भोथरेपन को तोड़ने के लिए ध्यान आवश्यक बताया है। बगैर ध्यान और समाधि के संवेदनशीलता नहीं पनपेगी। इस चीज को पातंजली योग की शब्दावली में निरोध कहते हैं- चित्त की निरोध वृत्ति। और निरोध होता है किसी के 'साथ फीलिंग ऑफ आइडेन्टिटी' से।

मैं इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया करता हूँ अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' का। यह 'असाध्य वीणा' निरोध का सबसे बड़ा उदाहरण है। इस में एक चीनी लोक कथा के आधार पर कविता की रचना हुई है। एक किसी राजा के यहाँ वीणा रखी थी उस को कोई साध नहीं सकता था। एक केशकम्बली फकीर उसे साधने आता है। वह (फकीर) वीणा को गोद में लेकर बैठ जाता है। औजार की तरह नहीं बल्कि एक जीवित बच्चे की तरह। उस के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने लगा कि यह वीणा बनी कहाँ से, इस की लकड़ी किस वृक्ष से आई, वह वृक्ष कहाँ उगा है, उस वृक्ष की क्या अवस्था थी, उस का क्या इतिहास था, कितने मार्गी उस के नीचे होकर गुजरे, कितने हजारों पक्षियों ने उस पर रैन बसेरा लिया, कितनी फौजें वहाँ से निकलती गईं, राजाओं के चढ़ाव और पढ़ाव करती हुई, और कितने हाथियों और शेरों ने अपनी पीठ गुजताई, सारी चीजों का एक एकाग्र ध्यान उस का बनता है। बनते-बनते उस पेड़ की जड़ें कहाँ गईं, गहराई में शायद शेषनाग के फन तक चली गईं, यह सब ध्यान करते हुए समग्र रूप से उस के चित्त का निरोध होता है और बुद्ध की भाषा में कहें तो समाधिस्थ होता है। हमेशा इस निरोध वृत्ति से ही सृजनात्मक कला उत्पन्न होती है। और वैसा जब होता है तो लोगों को लगता है कि सो गया है यह। आया तो था वीणा साधने के लिए और ऊँघते-ऊँघते सो गया, बेहोश हो गया, होश में नहीं दीखता, लेकिन उस के बाद उस की अंगुलियाँ अनायास चलती हैं और चलने के बाद उस में

जो संगीत झंकृत होता है उसका एक प्रभाव बनता है और उस प्रभाव में राजा रानी, दरबारी-मन्त्री, सभी को लगता है कि हमारी कामनाएँ पूरी हो गई हैं। यह उस का प्रभाव होता है। सभी साधुवाद करते है तो वह कहता है कि यह तो सारी सब कुछ की तथता थी। तथता का अर्थ होता है 'यूनिवर्सल एक्जिस्टेन्स' (ब्रह्माण्डीय अस्तित्व) उस के साथ तादात्म्य हो गया-'यूनिवर्सल रियेलिटी' के साथ, परम सत्य के साथ। इसे निरोध वृत्ति कहते हैं। इस के कई स्तर है। प्रज्ञा और शील के साथ अगर हमारी समाधि-साधना नही है या समाधि-साधना शिथिल है--वस्तु जगत् के साथ, व्यक्ति के साथ तादात्म्य करने की हमारी साधना अगर शिथिल है--तो हमारे व्यवहार मे अयास नैतिकता नही आ सकती है। सायासपूर्वक नैतिकता चतुराई है। वह नैतिकता नही व्यवहार कुशलता है नैतिकता 'स्पोटेनियस' होती है, अयास होती है और कला और सौन्दर्य का सृजन भी अयास होता है, उस में सायास नही होता। उसी तरह होता है जैसे हम श्वास पर श्वास ले रहे है, हम नींद मे हैं और पैर पर कोई चीज आई या किसी ने काटा तो अपने आप ही प्रतिक्रिया कर उस को हटा देते हैं। उसी तरह चेतना पूरी रहते हुए, 'अवैयरनैस' पूरी रहते हुए जो अयास होता है--और 'अवेयरनेस' उस वक्त निर्वैयक्तिक हो जाती है।

तो समस्याओं की जड मे व्यक्ति मे पृथकता का भाव है कि मैं बिल्कुल दूसरो से अलग हूँ, कि मैं साध्य हूँ और दूसरे साधन है। तब किसी को किसी दूसरे की वेदना नही होगी। और किसी दूसरे की समस्या की समझ नही आयेगी। यह प्रवृत्ति आज बढ रही है। 'इगोईज्म' बढता है, स्वार्थ बढता है, परार्थ घटता है तो सारी परम्परा का जोर इस बात पर है कि आदमी स्वार्थ से परार्थ की तरफ जाए और तभी वह परार्थ मे परमार्थ की तरफ जा सकता है। सीधा स्वार्थ से परमार्थ को छलांग नही लगा सकता। यदि सीधा स्वार्थ से परमार्थ की छलांग लगाता है तो वह आध्यात्मिक स्वार्थी है और आध्यात्मिक स्वार्थ बहुत खतरनाक होता है। क्योंकि फिर वो पहाड़ मे जाकर अकेला हो जाता है।

मैं बुद्ध परम्परा और हिन्दू परम्परा को एक ही मानता हूँ। बुद्ध को जितनी उन्नति करनी थी, उन्होंने की। उस के बाद उन को लगा कि अब वह अपनी 'एनटिटी' को समाप्त कर सकते हैं और निर्वाण मे उस को रूपान्तरित किया जा सकता है। लेकिन उन को महसूस हुआ कि जब तक विश्व के दूसरे प्राणी दुःखी हैं तब तक मैं ऐसे कैसे कर सकता हूँ। मैं स्वतन्त्र हुआ हूँ तो मुझे

दूसरों को क्लेश से, अज्ञान से मुक्त भी करना है। ऐसा माना जाता है कि यही बुद्ध की महा करुणा है। बुद्ध एक साथ महाप्रज्ञ और महाकारुणिक हैं। मैंने कहा कि यह परम्परा का मूल तत्त्व है। इस मूल को आप कहीं भी लगा लीजिए पर है वह व्यक्ति ही। जहाँ भी समस्या होती है व्यक्ति की होती है इस का अनुकरण करने वाले व्यक्ति स्वेच्छा से इस का अनुसरण करते हैं और इसलिए करते हैं कि उन का स्वार्थ सिद्ध हो जायेगा। हमारी सारी इच्छाएँ इसी का अनुकरण करने से पूरी हो जायेंगी। हम जिन्दा रह जायेंगे हम सुखी हो जायेंगे हमें कोई बड़ा पद मिल जायेगा। यहीं से सत्ता की प्यास बढ़ती है, यही तो बुनियाद है। इसको जब तक मूल से संशोधित नहीं करते हैं तब तक समस्या सुलझने की नहीं है तो 'रूट' को तो व्यक्ति से ही हमें ठीक करना होगा। व्यक्ति को सुसंस्कारित और जागरूक करना होगा। उस की चेतना, उस का बोध और उस की संवेदनशीलता बढ़ानी पड़ेगी और व्यक्ति की संवेदनशीलता और बोध बढ़ाने का जो सब से अच्छा माध्यम है वह है साहित्य सृजन और उस उत्कृष्ट साहित्य का शिक्षण, प्रचार नहीं। यह प्रक्रिया धीमी जरूर है लेकिन मेरी राय में यह एक सही तरीका हो सकता है। इस के सिवाय जो भी प्रक्रिया होगी वह तात्कालिक होगी और तात्कालिक होकर कुछ समस्याओं को हल करेगी तो कुछ नयी पैदा करेगी।

मोचायन, दिल्ली द्वारा बीकानेर में आयोजित एक साक्षात्कार गोष्ठी के लिए व्याख्यान का लिखित संशोधित रूप।

पर्यावरण और सनातन दृष्टि

पर्यावरण को भारतीय दृष्टि से समझने की कोशिश करें। इस के साथ हमारी हजारो वर्षों की मित्रता है जिस के अनुसार पर्यावरण का क्षेत्र कोरा प्राकृतिक पर्यावरण का क्षेत्र नही है। हमारे यहाँ प्रकृति का बहुत व्यापक अर्थ लिया गया है। संसार की कोई ऐसी चीज नही है जो प्रकृति से अलग हो तो हमारा घर और परिवार वह भी एक पर्यावरण है। पर्यावरण की हमारी शास्त्रीय परम्परा भी रही है कि प्रत्येक मनुष्य पर्यावरण मे ही पैदा होता है पर्यावरण मे ही वह जीता है और पर्यावरण मे ही वह लीन हो जाता है। पर्यावरण की इतनी व्यापक परिभाषा है। अब पर्यावरण के स्तर देखिए। मनुष्य परिवार में पैदा होता है, परिवार मे जीता है, परिवार मे मरता है या विलीन हो जाता है। आज उसे चुनौती नही दी जा सकती है क्योंकि पर्यावरण बहु-आयामी है। प्रत्येक परिवार के इर्द-गिर्द एक सामाजिक पर्यावरण है और उस के कई आयाम है। एक आयाम आर्थिक है, दूसरा आयाम राजनीतिक है तीसरा आयाम सास्कृतिक है। बहु-केन्द्रित होने के कारण प्रत्येक आयाम का अपना एक केन्द्र होता है जहाँ से वह क्रियाशील रहता है। इस सारे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक पर्यावरण के इर्द-गिर्द एक और सजीव पर्यावरण है जिसे हम पशु-पक्षियो तथा जीवधारियो का पर्यावरण कहते हैं। उस के भी चारो ओर इन सब स्तरो मे ओतप्रोत भौतिक तत्वों का पर्यावरण है। जिसे हम भौमिक, जलीय, वायवीय, आग्नेय और आकाशीय या विद्युत चुम्बकीय पर्यावरण कहते हैं। ये प्रकृति के स्थूल और प्रत्यक्ष आवरण है जिन का हमें अपने ही इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान और भान होता रहता है। लेकिन पर्यावरण के सम्बन्ध में मीमांसा करते हुए हमारी परम्परा सिर्फ इतने मे ही इतिश्री नही मान लेती। वह यह भी कहती है कि इस दृष्ट, प्रत्यक्ष स्तरो के अतिरिक्त पर्यावरण के कुछ अदृष्ट और अप्रत्यक्ष स्तर भी हैं जिन से हम और हमारा दृष्ट और व्यक्त पर्यावरण प्रभावित होता रहता है और प्रभावित करता भी रहता है। उन स्तरो को हम जैविक या प्राणावरण एवं मानसिक या चित्तावरण कहते हैं। इन सब आवरणों से हमारा

प्रति क्षण सम्बन्ध बना हुआ है और हमारे जीवन व्यापारों को इन सब स्तरों से आदान प्रदान होता रहता है। हमारे यहाँ कहावत है कि यदि पानी कुएँ मे नही है तो वह मेली मे यानि ऊपर के कुण्ड मे कहाँ से आयेगा।

धर्म सम्बन्धी हमारी धारणा मे यह कहा जाता है कि धर्म से ही प्रजा का धारण होता है—धर्मो रक्षित रक्षतः—आप धर्म की रक्षा करो, धर्म आप की रक्षा करेगा। उस का असली तात्पर्य यही है कि हम पर्यावरण के इन विभिन्न स्तरों को परिशुद्ध बनाए रखें और उन मे आपस मे एक सामंजस्य बना रहे। पर्यावरण के स्तरो मे जब सामंजस्य टूटता है या विषमता पैदा होती है तो उस का प्रभाव मनुष्य पर सीधा पड़ता है।

हमारी शास्त्रीय परम्परा इस विषमता का कारण मनुष्य को ही मानती है। मनुष्य ही अपनी सद्-और असद् इच्छाओं के द्वारा सद्-और असद् विचारों के द्वारा, सद्-और असद्-वाणी व्यवहार के द्वारा एवं सद्-और असद् कर्मों के द्वारा पर्यावरण को दूषित करता है। और इसके स्तरों मे असन्तुलन व विषमता पैदा करता है। और फिर स्वयं और सामूहिक रूप मे उस के विषम परिणामो को भोगता है। इन मूल तत्त्वो को ध्यान मे रखते हुए मनुष्य को सबसे पहले अपने पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पर्यावरण को दूषित करने और उस का सन्तुलन बिगाड़ने से बचना चाहिए। यही धर्म शब्द का वास्तविक तात्पर्य है। मनुष्य के इर्द-गिर्द पर्यावरण के अन्तर्गत आने वाले जो भी प्राणी और पदार्थ हैं उन सब का प्रत्येक मनुष्य से सम्बन्ध होने के कारण वह उन का ऋणी है क्योंकि वह उन से उपकृत होता है, पोषण और जीवन प्राप्त करता है। इसीलिए अपना ऋणशोधन करना पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। यह ऋणशोधन या ऋणमोचन उसका आजीवन कर्तव्य है। और जब तक वह जीवित रहता है तब तक उस से उऋण नही हो सकता। पर्यावरण के विषय मे दो परस्पर भिन्न दृष्टियाँ हैं। जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत है। एक दृष्टि पश्चिम की है जिस मे माना जाता है कि पर्यावरण मनुष्य का शत्रु है। वह उस के अस्तित्व और विकास के लिए बाधक और घातक है। इसलिए उस के प्रत्येक स्तर को समझकर उस को अपने वश मे करना है। उस का दमन करना है और उस का शोषण करना है ताकि मनुष्य अपने पर्यावरण मे ज्यादा से ज्यादा दीर्घ समय तक अनुकूलता प्राप्त कर जीवित रह सके। इसी दृष्टि को प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने "सर्वाइवल ऑफ दी फिटेस्ट" के नाम से प्रचलित किया था

और पश्चिम उसे पूरे वेग से अपनाए हुए है। इस के विपरीत भारतीय दृष्टि यह है कि पर्यावरण किसी भी स्तर पर हमारा शत्रु नहीं है बल्कि उस से तमाम स्तरों पर प्राणी और पदार्थों की पारस्परिक निर्भरता का एक सामंजस्य पूर्ण सहार है और उसके साथ सन्तुलन बनाए रखने से ही मनुष्य सुखी शान्त और सन्तुष्ट रह सकता है। इस के लिए प्रकृति अथवा पर्यावरण का शोषण, दमन और उपभोग करने की अपेक्षा उस से सहयोग और उस का उपयोग करना ही भारतीय दृष्टि से पर्यावरण के साथ सहज और स्वाभाविक सम्बन्ध की स्थापना करना है। हमारी दृष्टि यह है कि तमाम जगत् जगदीश्वर का शरीर है और हम सब उस मे विभिन्न घटक के रूप में जी रहे हैं और समग्रता के साथ पर्यावरण से हमारा सम्बन्ध अंगोअगी यानि 'आर्गेनिक रिलेशनशिप' है। हम एक-दूसरे से भिन्न तो अवश्य है और पर्यावरण के स्तर भी एक दूसरे से भिन्न है परन्तु कोई भी प्राणी, पदार्थ या स्तर सर्वथा भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से कटा हुआ एवं पृथक नहीं है। इसलिए प्रकृति या पर्यावरण के साथ अलगाव या कटाव की मिथ्या मान्यता के आधार पर उसे अपना शत्रु मानकर उस से घातक व्यवहार करना मानव जाति के लिए स्वय आत्मघात को निमन्त्रण देना है।

भारत वर्ष की हजारों वर्षो से यह मान्यता रही है कि प्रकृति के सन्तुलन को कायम रखा जाए। यह बहुत अच्छा है मनुष्य के लिए भी अच्छा है और प्रकृति के लिए भी अच्छा है। इस सन्तुलन को अस्वाभाविक रूप से तोड़ो। लेकिन विज्ञान का जिस ढग से प्रयोग हो रहा है उस मे ऐसा लगता है कि सत्ता के लोभ से, धन के लोभ से ग्रस्त सभ्यता उसे रहने नहीं देती। वह हर हालत मे प्रकृति के सन्तुलन को तोडना चाहती है। क्यो तोड़ना चाहती है? मुझे लगता है उस में एक दृष्टि दोष है। पूर्व की दृष्टि यह रही है कि प्रकृति हमारी माता है। और हमे उस के साथ सहयोग करना चाहिए। हमे उस के नियम समझ कर उस के अनुसार बर्ताव करना है यह सही है कि प्रकृति किसी का लिहाज नही करती। और उस के नियम समझना साईंस के जरिए ही हो सकता है। लेकिन साईंस के द्वारा प्रकृति के नियम समझ कर उस के साथ हमे सहयोग करना है। उसे आदर देना है। दूसरी दृष्टि है पश्चिम की कि प्रकृति एक तेज नाखूनो वाली राक्षसी है जो हर हालत मे हमे मारना चाहती है, नष्ट करना चाहती है। और इसलिए हमे किसी तरह से इस के साथ सघर्ष करना है। सघर्ष मे अगर हम 'फिट' हैं तो हम जिन्दा रह सकते हैं नही

तो प्रकृति हमें मार देगी। इसलिए प्रकृति को जानकर प्रकृति को अपने वश में करना है, इस का शोषण करना है। यह प्रकृति के साथ दुश्मनी की दृष्टि है और ये पश्चिम की अधिकांश दृष्टि है। और इस दृष्टि को यदि आप पूरी तलाश करें तो बहुत पुरानी है यह दृष्टि। बाईबल में एक कथा आती है कि पशु की तरह नर-नारी पहले नंगे रहते थे। उन का जीवन स्वाभाविक था, प्राकृतिक था, प्रकृति के साथ उन का पूर्ण सामंजस्य था। तो परमात्मा ने उन्हें ऐसी प्रेरणा दी थी कि इस वृक्ष का फल है जो तुम नहीं खाना—यह वर्जित है तुम्हारे लिए। सेव का वृक्ष है और नीचे शैतान सांप का रूप बनाए हुए बैठा था। उस ने कहा कि क्यों बात मान रहे हो खुदा की। यह फल बहुत मीठा है इस को जरूर खाओ। उस ने परमात्मा की बात नहीं मानी, शैतान की बात मान ली। उस फल को खाया। खाते ही उस में स्व-चेतना पैदा हुई कि मैं अलग हूँ और प्रकृति अलग है। और मैं अलग हूँ और यह नारी अलग है। और नारी में स्व-चेतना पैदा हुई कि मैं अलग हूँ और पुरुष अलग है और मैं अलग हूँ और यह परिवेश मुझ से अलग है तो यह जो मनुष्य में 'ओरिजनल' मूलभूत 'डिकोटोमी' द्वैत या द्वन्द्व पैदा हुआ। उस से एक तो लज्जा पैदा हुई तो उस ने अपने अंगों को ढक लिया और दूसरा भय पैदा हुआ कि प्रकृति हमें मारेगी, खा जायेगी। इसलिए इस प्रकृति के डर से कैसे बचें। तो आप देखते हैं कि जैसे भयभीत बिल्ली जोर से आक्रमण करती है वैसे ही प्रकृति के डर ने उसे इतना भयभीत और तनाव से भर दिया कि वह हर हालत में प्रकृति के समझने और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने और विजय प्राप्त करके प्रकृति का शोषण करने की तरफ अग्रसर हुआ। और इस मामले में पश्चिम ने दुनिया का नेतृत्व किया। और आज हम देखते कि जितना पर्यावरण का प्रदूषण पश्चिम के उद्योग और व्यापार ने पैदा किया वह बहुत ज्यादा है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि हमारे यहां भी तो एक जमाना रहा है जिस में व्यापार भी रहा है, सम्पन्नता भी रही है और प्रकृति का दोहन भी किया है। चार शब्दों का फर्क ध्यान में रखें—एक है प्रकृति का पोषण दूसरा है प्रकृति का शोषण तीसरा है प्रकृति का दोहन और चौथा है प्रकृति का प्रदूषण। इन चारों को आप समझ लीजिए। तो प्रकृति के साथ हमें क्या सम्बन्ध रखना है यह ध्यान में रखना है। भागवत में एक कथा आती है कि वेन नाम का चक्रवर्ती राजा हुआ था वह बड़ा अत्याचारी था। उस समय के बौद्धिक वर्ग ने कुपित होकर उस का वध कर दिया। उस के बाद उस का बेटा पृथु

राजा हुआ। तो कहते हैं उस वक्त प्रकृति वन्ध्या हो गई, बाँझ हो गई। उस पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता था। तो पृथु ने प्रकृति का दोहन किया। अब हम यह कह सकते हैं कि दोहन और शोषण में क्या फर्क है। दोहन भी तो एक तरह का शोषण है लेकिन बहुत बुनियादी फर्क है। आप गाय को दुहते हैं। एक व्यक्ति गाय पालता है गाय का दोहन करता है लेकिन बिना पोषण किए गाय का दोहन करता है क्या? या इस हद तक करता है क्या कि गाय के प्राण निकल जाएँ? महात्मा गान्धी कलकत्ता गए थे और उन्होंने गाय का दूध पीना उस दिन से छोड़ दिया जब उन्होंने देखा कि कुछ पेशेवर दूध बेचने वाले गाय के पेट में बाँस की एक नली से फूंक देकर इस तरह से दूध की ग्रन्थियों पर दबाव डालते थे कि दूध के साथ खून भी आने लगता था। इस हद तक दूध को निचोड़ते थे यह शोषण है, यह दोहन नहीं है। दोहन में पहली शर्त पोषण की है। बच्चा माँ का दूध पीता है तो शोषण नहीं करता। माँ का पोषण होता है। और वो उमड़ती है उस को दूध पिलाने के लिए। लेकिन आज तो केवल शोषण होता है। भागवत की पुरानी कहानी का हवाला देता हूँ—कृष्ण ने यशोदा का दोहन किया, दूध पिया उस के स्तनों का और पूतना का शोषण किया। इतना किया कि वह मर गई। वह राक्षसी थी इसलिए उन का शोषण किया। और माँ का दूध पिया—वह उनका दोहन था। तो दोहन में हमेशा पोषण का स्वरूप रहता है। पोषण पहले है और उस के बाद दोहन है। तो यह एक पारस्परिक पूरक सम्बन्ध है और इस में सन्तुलन बना रहता है। जात का सवाल नहीं है हिन्दू हो या मुसलमान हो। बीकानेर के तेलीवाड़े में रहीमबक्स नाम का एक मुसलमान था। मियाँ-बीवी दो थे, बच्चा कोई नहीं था। इस के दो गायें थीं। इतना लाड प्यार से रखता था, कि गायों के चारे में और बाँटे में ग्वार में घी मिला-मिला के खिलाया करता था। दूध पिलाया करता था गाय को। गाय खूब दूध देती और लोग जब कहते कि रहीम बक्स तुम्हारी गाय क्या है हथिनी है तो बड़ा खुश होता इस बात से। उसे यह होता कि मेरी गाय की तारीफ़ हो रही है और मैं पोषता रहा हूँ इस को। वह दूध पीता भी और बेचता भी था। लेकिन यह उस का शोषण नहीं था।

प्रकृति का हम शोषण करते हैं और जिस चीज का शोषण करते है उसे हम बिल्कुल नष्ट कर देना चाहते हैं। मैं आपको बीकानेर का ही एक उदाहरण देना चाहता हूँ। आप सवेरे-सवेरे जस्सूसर गेट जाकर चार-छह घंटे के लिए बैठ जाएँ।

आपको फोग की लकड़ियों के भरे हुए ट्रक दिखाई देंगे। और वो लकड़ियाँ जड़ से काटी जा रही है एकदम। आइन्दा उगेगा नही फोग। और आज उगाया जाए और 'बीस सूत्रीय कार्यक्रम' के अनुसार उस वृक्ष को लगाया जाए तो शायद पचास वर्ष में फोग के वृक्ष तैयार होंगे। तब तक क्या होगा ईंधन का। लेकिन आज ईंधन भी एक व्यापार की वस्तु बन गई है। और उस के लिए ट्रक के ट्रक फोग को जड़ो से काटा जा रहा है। हमारी परम्परा मे हमेशा पर्यावरण का पूजन भी किया जाता रहा है। पर्यावरण की चीजों मे देवत्व माना गया है। और इस लिए जीवित वृक्ष को काटना पाप समझते हैं। कभी भी नही काटना चाहिए उसे और जड़ से तो कभी उसे काटना ही नही चाहिए। अगर सूखा भी है तो उसे जड़ से नही काटना चाहिए जब तक कि वृक्ष पूरा मर नही जाता है। उस की सूखी डालियों को काट लो ताकि वृक्ष फिर जिन्दा रह सके। और यह आगे बढ़े। लेकिन आज उस का इतना शोषण होता है कि पन्द्रह-बीस वर्ष के बाद बीकानेर से पूगल के इलाके की तरफ पाकिस्तान की सीमा के इलाके तक आपको फोग की एक लकड़ी तक नहीं मिलेगी।

यहाँ मैंने देखा है देशनोक के आसपास हर देवता के मन्दिर के साथ एक ओरण नाम का फेरिया होता है। ओरण का अर्थ है चक्कर लगाना। एक हिस्सा छोड़ दिया जाता था कि इस की बोटी को, इस के खेजड़े को कोई हाथ लगाता तो राज के द्वारा कानूनन दण्डित होता था। और गाँव वाले उसे वर्जित समझते थे। और जो भी उस का उल्लंघन करता उसे पकड़कर पुलिस के हवाले कर देते थे। तो उस से परिवेश मे सन्तुलन बना रहता था। वानस्पतिक जगत् का और मानव जगत् का सन्तुलन। वानस्पतिक जगत् और दूसरे प्राणी जगत् के सन्तुलन को कायम रखने की बहुत जरूरत है। आप लोगों ने पढ़ा होगा कि चीन मे ऐसा किया गया था कि चूहे और गौरेया को एकदम मार दिया गया था। कोई निशान ही नहीं रखा था। चूहों से बहुत नुकसान होता है। हमारे यहाँ भी बहुत चिल्लाते हैं कि चूहे बहुत ज्यादा अनाज खा जाते हैं। नतीजा यह हुआ कि कुछ बीमारियाँ ऐसी चली जिन के कीड़ों को चूहे खा जाया करते थे वो नही खाए गए और उन्होंने रोग फैलाने शुरू कर दिए तो फिर इधर-उधर से चूहे मँगवाकर गाँवों मे छोड़े गए ताकि उनकी नसल फिर हो। प्रकृति का अपना एक सन्तुलन है मनुष्य को उस में ज्यादा फेर बदल करने की जरूरत नही है। चूहों को मारने के लिए बिल्लियाँ हैं, चूहों को मारने के

लिए पक्षी भी है, चूहो को मारने के लिए खेतो मे साँप भी है। वे सन्तुलन को बनाये रखते हैं। साँप को मारने के लिए पक्षी बहुत सारे हैं, चील भी मार देती है, दूसरे पक्षी भी मार देते हैं और नेवला भी मार देता है। तो प्रकृति मे एक ऐसा सन्तुलन है जिसे हद से आगे बढा देते हैं, तोड देते हैं तो वह सन्तुलन बिगड़ता है और सन्तुलन बिगड़ना अस्वास्थ्य का लक्षण है। हमारे शरीर मे अंगो का सन्तुलन है। हमारे रक्त संचार का हमारे श्वास का, हमारी पाचन क्रियाओ का एक सन्तुलन एक सामंजस्य है। यह सामंजस्य जब बिगड़ता है तो कोई एक चीज बढती है और दूसरी चीज घटती है। जो घटती है उसका शोषण होता है, जो बढ़ती है उस की वृद्धि होती है उस से स्वास्थ्य की हानी होती है। शरीर मे आठ दस जगह बड़े ट्यूमर निकल जाएँ और अंग सूख जाएँ एकदम 'एट्रोफी' हो जाएँ तो उसे हम स्वस्थ नही कह सकते। लेकिन हमारे उद्योग प्रधान आर्थिक ढाँचें से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक शरीर मे ट्यूमर पैदा हो जायेंगे। और ट्यूमर हमेशा शरीर के दूसरे आवश्यक अगो का शोषण करके होते हैं। तो शोषण और उस के ठीक विपरीत प्रक्रिया है प्रदूषण। जो शोषण करते हैं उसी से प्रदूषण होता है।

मेरे कहने का मतलब यह नही है कि इस युग मे हम उद्योग धन्धे न करें या इण्डस्ट्री न हो। पर इण्डस्ट्री पर जिन लोगो ने बहुत गहराई से सोचा है उन मे शूमाकर का नाम महत्वपूर्ण है। अभी कुछ वर्ष हुए उन की मृत्यु हुई है। उन्होने 'स्माल इज ब्यूटीफुल' नामक एक किताब लिखी है। वह कहते हैं कि इन्डस्ट्री चलाने के लिए पॉवर लगाएँ, चाहे आप उसे एटम से चलाएँ या बिजली से चलाएँ, किसी तरह से चलाएँ लेकिन उस का परिवेश के साथ सन्तुलन होना चाहिए और परिवेश के साथ सम्बन्ध होना चाहिए आर्थिक सम्बन्ध भी, प्रशासनिक सम्बन्ध भी, सामाजिक सम्बन्ध भी, सांस्कृतिक सम्बन्ध भी। इन सारे सम्बन्धों का जो कॉम्पलेक्स है उस मे यदि एक सन्तुलन सामंजस्य है तो वह स्वस्थ रहेगा, शोषण नही होगा और उस के माध्यम से एक पोषण भी मिलेगा और पारस्परिकता बढ़ेगी। और अगर वैसा नही है तो एक जगह सत्ता का बहुत ज्यादा केन्द्रीकरण होना है, उत्पादन का केन्द्रीकरण होता है, धन का केन्द्रीकरण होना है, जनसख्या का केन्द्रीकरण होता है और उसी तरह से प्रभाव का केन्द्रीकरण होना है तो जहाँ केन्द्रीकरण होता है वहाँ शोषण भी होगा ही। अगर एक की जेब बहुत मोटी हो जाती है किसी और के पैसो से

तो जरूरी बात है कि कईयों की जेबें खाली हुयी होंगी। तभी ऐसा होगा। तो प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है। मनुष्य भी एक प्राकृतिक प्राणी है और उसका मन और बुद्धि भी प्रकृति का ही एक बहुत सूक्ष्म हिस्सा है। हम देखते हैं कि गुलाब का पौधा है, उस के नीचे खाद होती है उस के इर्द-गिर्द तना होता है उस के बाद काँटे होते हैं, काँटो के बाद पत्ते होते हैं उन के बीच में फूल किस तरह से खिलता है। गन्ध होती है। हमारी बुद्धि और हमारा मन फूल की तरह खिली हुई चीज हो सकती है। लेकिन उस के नीचे तो सारा सम्बन्ध इसी तरह का है। काँटे भी है पत्ते भी है तना भी है मिट्टी भी है कीचड़ भी है और जो 'मिनरल्स' धातुएँ है वह उन सब का पोषण करती है। उन सब को निकाल दें तो गुलाब के फूल का कोई अस्तित्व नही है। तो हमारी बौद्धिकता का हमारी नैतिकता का जिन-जिन ऊँचे ऊँचे आदर्शों की हम बातें करते हैं उन सब का आपस मे निर्भरता का सम्बन्ध है और वह परिवेश के साथ निरन्तर बना रहता है। दो मिनट साँस रोक कर देखें तो हमें पता लगेगा कि हवा की कितनी कीमत है। दो मिनट अगर हवा हमारे फेफड़े में नही जाए तो दम घुटने लगता है। तो परिवेश के जितने भी भौतिक तत्त्व हैं हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी सब के साथ हमारा एक सन्तुलन होना चाहिए। उसी तरह जितने प्राणी, चाहे साँप हो, चीता हो, गाय हो, पशु हो, कोई भी हो उन के साथ हमारा एक सन्तुलन बना रहना चाहिए। इसे कहते हैं इकोलॉजी। एक नया साईन्स पनप रहा है और वह पर्यावरण का ही विज्ञान है। उस का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से होता है क्योंकि यह सारी प्रकृति का एक आवश्यक हिस्सा है।

राजस्थान उद्योग की दृष्टि से बहुत पिछड़ा है और सच तक यो समझिए कि आपका दुर्भाग्य पूरी तरह से उदय नही हुआ है। जितना पिछड़ा है उतना ही आपका स्वास्थ्य और परिवेश अपेक्षाकृत अस्वास्थ्यकर नही हुआ है। पाली में रँगाई का बहुत काम होता है। उस से जो अवशिष्ट सामग्री निकलती है जो पानी निकलता है उस ने वहाँ के तालावों को जहरीला बना दिया है। यह सिर्फ पाली निवासियों के लिए ही नहीं जोधपुर तक के लिए एक समस्या बन गया है। उसी तरह हमारे कुएँ जहरीले हो गए हैं हमारी नदियाँ प्रदूषित हो गयी हैं। आगरे मे सौंदर्य का सब से बड़ा प्रतीक ताजमहल प्रदूषण के कारण अपनी सुन्दरता को खोता जा रहा है। प्रदूषण की

समस्याएँ हमारी आम जीवन की, संस्कृति की और सामाजिक समस्याओ के साथ जुडी हुई हैं।

एक पुरानी कहावत है संस्कृत मे 'धर्मो रक्षति रक्षतः'। आप धर्म की रक्षा करिए, धर्म आप की रक्षा करेगा। आप इसी अर्थ में लीजिए कि आप परिवेश की रक्षा करें पर्यावरण को प्रदूषण से बचाएँ, पर्यावरण आप की रक्षा करेगा। आप चुपचाप उसे उपेक्षा से नष्ट होने दीजिए उस की परवाह न करिए इसे और जहरीला होने दीजिए शोषित होने दीजिए आपका पोषण मर जायेगा। श्वास के जरिए से, पानी के जरिए से, अन्न के जरिए से, माँस मछली के जरिए से,एक जहर हमारे अन्दर पहुँचता जायेगा और हम धीरे-धीरे मृत्यु की दिशा की ओर प्रयाण करते रहेगे। तो यह मैं समझता हूँ मानव जाति के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है। और इस को सुलझाने के लिए प्रकृति के साथ सन्तुलन और सामंजस्य बनाए रखने की जरूरत है। और यही मनुष्य का धर्म है क्योकि जो स्वाभाविक होता है वही धर्म होता है। जो अस्वाभाविक होता है वह धर्म नही होता है। सम्प्रदाय आदि को मैं धर्म नही मानता जैन दर्शन मे लिखा है कि जो वस्तु का स्वभाव है वही धर्म है। आग का जलना ही आग का धर्म है, पानी का बहना ही पानी का धर्म है हवा का सचरित होना, श्वास का चलना हवा का धर्म है। जिस वस्तु का जो धर्म है उस के साथ मे सन्तुलन ही हमारे शरीर को बनाए हुए हैं। उसे नही बिगाड़ें। उस को बिगाड़ने की जो दृष्टि है वह है सामाजिक प्रदूषण उसे यह जो आज की अर्थ व्यवस्था है उसे हम भोग प्रधान अर्थ व्यवस्था भी कह सकते हैं यह सारी चीजो का सन्तुलन बिगाड़ती है।

पर्यावरण की दृष्टि को हमे शोषण रहित बनाना है। वह नारेबाजी से नही होगा जिसे हम इकॉलोजी की दृष्टि कहते है। इकॉलोजी की दृष्टि को, पर्यावरण की दृष्टि को हमे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र तक मे उतारना है। अगर समाज मे संघर्ष है, कलह है, शोषण है, अत्याचार है, अन्याय है तो निश्चित बात है कि समाज का यह जो परिवेश है और उस का पर्यावरण है वह भी दूषित हो रहा है। पर्यावरण का दूषण मानसिक तरीके से भी होता है, नारेबाजी से भी होता है, गुण्डागर्दी से भी होता है। उन का शोषण होता है, उस का प्रदूषण होता है और वह प्रदूषण तत्काल हमे हानि पहुँचाता है। तत्काल हत्याओं मे परिणत हो जाता है, तत्काल दुर्घटनाओ मे,

आत्म दाह में या आत्म हत्याओं में परिवर्तित हो जाता है। तो प्रदूषण पर विचार करते हुए उस के तमाम पहलुओं पर विचार करना चाहिए और मैं समझता हूँ आप का यह जो शिविर आरम्भ हो रहा है उस में उस के सब पहलुओं को लिया जायेगा।

रामपुरिया महाविद्यालय, बीकानेर में अखिल भारतीय राष्ट्रीय सेवा योजना शिविर में दिए गए व्याख्यान का लिखित सम्पादित रूप)।

बुनियादी मूल्य, परिवेश और बाज़ार

मैं एक बहुत पिछड़े हुए इलाके का रहने वाला हूँ और यह भी कि मैं पढ़ा लिखा आदमी नहीं हूँ, इसीलिए आज के इस परिवेश में अपने को थोड़ा, शकित और आतंकित पाता हूँ। अभी-अभी जो परिवेश और पर्यावरण की चर्चा हुई। मैं उसी से आरम्भ करता हूँ। पर्यावरण एक ऐसी दृष्टि है जो शाश्वत और अखण्ड है और पर्यावरण को छोड़कर जो भी दृष्टि बनती है वह खण्डित है, सामयिक और काम चलाऊ है। मनुष्य अपने सारे परिवेश से जुड़ा हुआ है—इस में भौतिक परिवेश भी है और सारे जगत का परिवेश भी है—प्राकृतिक जगत का परिवेश भी है और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश भी है। और अब ये परिवेश नयी प्रौद्योगिकी की मुट्ठी में आ गए हैं। आज का आदमी भी इस परिवेश से कहीं भी कटा हुआ नहीं है। जब तक हमारी दृष्टि और आस्था इस समग्रता की नहीं होगी, शाश्वतता की नहीं होगी तब तक हम पर्यावरण की समस्या को ठीक से नहीं समझ पायेंगे और एक-एक खण्ड लेने की कोशिश करेंगे तो फिर उन का आपस में सूत्र नहीं जुड़ेगा और एक उलझन से दूसरी उलझन पैदा होगी। अकबर इलाहाबादी ने लिखा था .

फलसफ़े को सिर्फ मतलब से खुदा मिलता नहीं
डोर को सुलझा रहे हैं पर सिरा मिलता नहीं।

अब ये सिरा कहाँ से ढूँढें? मेरा ऐसा ख्याल है कि परिवेश मनुष्य को प्रभावित करता है—सामाजिक परिवेश भी, सांस्कृतिक परिवेश भी, आर्थिक परिवेश भी, राजनैतिक परिवेश भी और इसी तरह प्रकृति और प्राणीजगत् का परिवेश भी प्रभावित करता है—लेकिन यह परिवेश नियामक नहीं है। मनुष्य स्वयं अपना नियामक है और प्रत्येक व्यक्ति अपना नियामक है और यह भी परिवेश को प्रभावित करता है। और अगर उस में क्षमता है तो परिवेश में बुनियादी परिवर्तन कर सकता है। संसार का इतिहास इस बात का गवाह है कि बड़े-बड़े चिन्तक हुए हैं जिन्होंने परिवेश को बदला है। कार्लमार्क्स ने परिवेश में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। उस से पहले के चिन्तकों ने भी

परिवेश मे परिवर्तन किया है। प्राकृतिक जगत् के परिवेश मे अपने आप इतना परिवर्तन नहीं हुआ। जिस दुष्परिणाम से हम भयभीत हो रहे हैं, यह भी मनुष्यों के द्वारा ही किया गया परिवर्तन है। तो फिर समझ मे आता है कि इस मे मूल्यदृष्टि का अभाव है। मुझे महाभारत का एक श्लोक याद आता है जिस मे कहा गया है कि—ब्रह्म की बात तो बहुत हुई, उस को छोडो लेकिन उस का सार है कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कोई नही है। मैं इस को चेतना की कसौटी मानता हूँ। इस को अगर कसौटी कहूँ तो मनुष्य की महिमा और गरिमा स्थापित होती है। अन्यथा तो परिवेश की, संस्था की, व्यवस्था की महिमा-गरिमा स्थापित होती है। तीन चीजें हैं: परिवेश, व्यवस्था और संस्था। व्यवस्था संस्थाओ के माध्यम से चलती है; और फिर उस का जो परिवेश है, वातावरण है; ये सब के सब जड हैं। मनुष्यकृत हैं, और मनुष्य के लिए हैं। मनुष्य में आस्था और दृष्टि है, जिन से वह परिचालित होता है और मैं थोड़ा स्पष्ट कर दूँ कि आस्था से मेरा मतलब 'फ़ेथ' से नही है कि इस किताब को मान लो, इस पैगम्बर को मान लो, इस बात को मान लो।

अगर हम मूल्यगत बात सोचते हैं तो हमारी आस्था इस तरह की होनी चाहिए कि विश्व की प्रक्रिया मे मूल्य की प्रक्रिया निहित है। क्यों कि मूल्य अगर विश्व की प्रक्रिया मे नही है तो मनुष्य मे कहाँ से आयेंगे? हमारी राजस्थानी मे कहते हैं कि कूएँ मे पानी नही है तो खेळी मे कहाँ से आयेगा? कूएँ में है तभी तो खेळी में आयेगा। मनुष्य विश्व प्रक्रिया का एक अंग है, एक बहुत ऊँचा अंग है-सर्वोच्च शिखर तक विकसित हुआ है लेकिन है तो आखिर उसी प्रक्रिया का परिणाम। तो जहाँ हम ये आस्था लेकर चलते हैं कि सारी विश्व-प्रक्रिया परस्पर सम्बद्ध प्रक्रिया है तो दूसरी आस्था वह अपने आप होती है कि ये प्रक्रिया मूल्य से जुडी हुई है, उद्देश्यशील है, उद्देश्य को प्राप्त करने वाली है—कोई लक्ष्य है जिस को यह उपलब्ध करना चाहती है—और उस लक्ष्य की ओर चलने की प्रक्रिया मे, इस यात्रा में, मनुष्य नाम का प्राणी पैदा हुआ है और उस मनुष्य के माध्यम से वह एक और ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है और मनुष्य उस का माध्यम है। तो ये मूल्यो की एक बुनियादी दृष्टि है।

मैं पुराना आदमी हूँ और कुछ भारतीय शब्दावली में सोचने का आदी हूँ। आखिर ये मूलभूत मूल्य क्या हैं और परिवेश से उन का सम्बन्ध कैसे बैठता है? मैंने आज तक जो देखा, सोचा, सुना-पढ़ा उस से यही लगा कि जिस

को हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ कहते है वे चारो मूल्य है: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पहला धर्म है। अन्त मे मोक्ष है। काम और अर्थ उन के बीच मे है। अर्थ मनुष्य की जिजीविषा की पूर्ति का साधन है। बगैर अर्थ के मनुष्य जिन्दा नही रह सकता। बगैर अर्थ के पशु भी जिन्दा नही रह सकता। इसीलिए यहाँ मनुष्य और पशु की समानता है क्योकि अर्थ का मतलब है उपभोग की सामग्री और बगैर उपभोग की सामग्री के न पशु जिन्दा रह सकता है और न मनुष्य ही। उस के बगैर जो प्राणी की जिजीविषा है, जो बहुत मूल्यवान है—जीवन अपने आप मे एक मूल्य है—उस मूल्य की पूर्ति नही हो सकती। दूसरी प्रवृत्ति प्राणीमात्र मे है-वश की निरन्तरता। क्योकि व्यक्ति मरता है लेकिन जाति या नस्ल निरन्तर गतिशील है। व्यक्ति मे नित्यता नही है पर नस्ल मे प्रवाही नित्यता है। फिर उस मे निरन्तरता है और इस के लिए काम एक मूल्य है क्योकि उस के साथ भोग भी जुडा हुआ है, आनन्द भी जुड़ा हुआ है। लेकिन इस आनन्द की जो परिणति है वह बेहोशी मे है। बडे से बड़े भोग के बाद मनुष्य बेहोश होता है, नीद मे जाता है। लेकिन नस्ल को कायम करने की जो उस की प्राणगत जैविक आवश्यकता है वह मनुष्य और पशु मे बराबर है। चिन्तक कहते है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये पशु और मनुष्य मे बराबर हैं।

तब विशेषता क्या है ? हमारी परम्परा कहती है कि विशेषता है धर्म। अब धर्म से मतलब यहाँ निश्चय ही उस से नही है जिसे आप मजहब कहते हैं या मान्यता, पूजा-पाठ वगैरह। इन चीजो से धर्म का कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। यहाँ पर परिवेश का, पर्यावरण का सीधा प्रश्न आता है कि ये मूल्य साधन मूल्य हैं। इस के बगैर मनुष्य जीवित नही रह सकता, मनुष्य जाति जिन्दा नही रह सकती। इसीलिए मूल्य हैं। लेकिन ये साधन मूल्य हैं, साध्य मूल्य नहीं हैं तो साध्य क्या है ? साध्य है धर्म। और मैं यह पचास साल से देख रहा हूँ कि इस शब्द का स्थान संस्कृति ने ले लिया है। एक और नयी धारणा वर्ग की है जिसे हम आर्थिक-राजनीतिक वर्ग की सीधी सादी व्याख्या कह सकते है। मैं इसे नही मानता। वर्ग बनता है व्यक्तियो से। तो सीधे क्यो नही माने कि व्यक्ति की जो लालसा है उस का सामूहिक नाम वर्ग है। तो एक 'सिकनेस' है मानवीय आत्मा मे मनुष्य की चेतना मे और उस की गलत धारणा मे। उस की जो जीवन दृष्टि है वह गलत है और उस के जीवन की जो मान्यता है वह गलत है। यहाँ पर धर्म यह कहता है कि विश्व की

उत्पादक चेतना ने विश्व को उत्पन्न किया है—'मल्टीफेनामेनल' विश्व को उत्पन्न किया है, बहु–घटनात्मक और बहुवर्चस्वात्मक। उस से इन का पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप तय कर लिया और वह स्वरूप है यज्ञ। सृष्टि को यज्ञ के साथ ही पैदा हुआ माना गया है। और यज्ञ में देवताओं और मनुष्यों का परस्पर आदान-प्रदान है। आप देवताओं को पुष्ट करो, देवता आपको पुष्ट करेंगे। पर्यावरण की हमेशा यह धारणा रही है कि हम वनस्पति को पुष्ट करें, वनस्पति हमें पुष्ट करें। हम उस का शोषण नहीं करें क्यों कि हम उस के ऋणी हैं और ऋणमोचन सब से बड़ा धर्म है। हम परिवेश के कर्जदार हैं और उस के कर्ज को उतारना हमारा साहूकारा है, सामाजिक दायित्व है या कल्चरल साल्वेन्सी है। तो अगर हम यह कर्ज उतारते हैं तो एक सन्तुलन बनता है वे हमारे पर कृपा करते हैं, हम उन पर कृपा करते हैं। गीता में तो एक बहुत बड़ा उदाहरण दिया है। कृष्ण कहते हैं कि मैं ने ये यज्ञ-प्रक्रिया का योग सूर्य को कहा, सूर्य ने मनु को कहा, मनु ने ईक्ष्वाकु को कहा आदि। और अब आप देखिए सूर्य अपनी किरणों का होम करता है समुद्र में उस होम से भाप उड़ती है और बादल बनते हैं। बादल अपने शरीर का होम करते हैं और वर्षा होती है और वर्षा से अन्न बनता है। और अन्न अपने शरीर का होम करता है तो हमारा शरीर बनता है। हमारे शरीर में जो वीर्य बनता है उस का हवन होता है तो मनुष्य का जन्म होता है। स्त्री के गर्भ में हवन होता है। इसे वेद में पंचाग्नि विद्या कहते हैं। पांचवीं आहुति में मनुष्य नाम के प्राणी का निर्माण होता है—इसी तरह पशु नाम के प्राणी का भी। तो ये सारा अन्तः सम्बद्ध एक प्रक्रिया है—पारस्परिक और यज्ञात्मक।

अब यहां हमारी संस्कृति बुनियादी बात कहती है। आपके सामने दो रास्ते हैं। एक बलिदान का रास्ता या उत्सर्ग की भावना का पारस्परिक उत्सर्ग का एक दूसरे के लिए यज्ञ और कुर्बानी करने का। पशु की हिंसा करना यज्ञ नहीं है। यज्ञ वह है जो स्वेच्छा से हो। अपने स्व का हनन कर दे, होम कर दे, जला दे। इसीलिए यज्ञ की आहुति में अन्तिम शब्द होता है 'नमम् स्वाहा' अर्थात् मैं और यह मेरापन इस में जल जाएं, और यह जो धुंआत्मक अग्निकुण्ड है–परिवेश का जो अग्नि कुण्ड है–उस में जल जाए ताकि दूसरे देवता का उस से पोषण हो जाए। यह सारी पर्यावरण की एक ऐसी प्रक्रिया है जिस में आप को एक संगति मिलेगी। मनुष्य का सारे परिवेश के साथ एक सन्तुलन

बनेगा और अगर ऐसा नहीं है तो फिर शोषण का रास्ता होगा, शोषण होगा। एक स्वतन्त्रतापूर्वक ऋणमोचन का रास्ता है और दूसरा है जबरदस्ती शोषण का रास्ता। इस शोषण के आधार पर जो व्यवस्था बनी हुई है उसे हम पूँजीवादी व्यवस्था या साम्राज्यवादी व्यवस्था कहते है। इस तरह की जो व्यवस्था है वह अधर्म है। वह शोषण करती है, दमन करती है लाच्छित करती है। और अगर यज्ञ की प्रक्रिया है तो वह पोषण करेगी, सम्मान करेगी। वह वृक्ष में भी देवत्व देखेगी, नदी में भी देवत्व देखेगी। जिसे तुलसीदास कहते हैं 'सियाराम मय सब जग जानी'। प्रत्येक दूसरे मे देवत्व देखेगी तो वह उस का साध्य बन जायेगा और व्यक्ति स्वयं साधन हो जायेगा और साधन का जीवन तो सारा ही यज्ञमय होगा।

अपनी दूसरी बात उदाहरण के रूप मे देकर बात समाप्त करता हूँ। सिर्फ प्राकृतिक परिवेश मे ही नही, मानव परिवेश मे भी यह व्यवस्था हमारे यहाँ वर्षों तक रही और हम इसे भूल गए हैं। वह है हमारी अर्थव्यवस्था की यज्ञ-मूलक प्रवृत्ति जिसे यजमानी प्रथा कहते है। यजमानी का मतलब है जो यज्ञ से माने। एक आदमी धन्धा करता है, कपड़ा बनाता है, किस के लिए? वह कहता है मेरे यजमान के लिए। एक कुम्हार भाँड बनाता है। किसके लिए? यजमान के लिए। यजमान क्या करता है? वह उस की आवश्यकता पूर्ति कर देता है। शादी के मौके पर, गमी के मौके पर, तीज और त्यौहार के मौके पर। सैंकड़ो-हजारो वर्षो से भारत मे यह यज्ञमूलक आर्थिक व्यवस्था और सम्बन्धो का यह स्वरूप चलता आया था। तो एक है बाजारू व्यवस्था और एक है यजमानी व्यवस्था। बाजारू व्यवस्था जैसे-जैसे बढती गई, वैसे-वैसे ही यजमानी व्यवस्था घटती गई। मैं एक उदाहरण देता हूँ—मेरे जीवन का है। आज मेरी आयु पचहत्तर वर्ष है। मैं करीब दस-बारह साल का था। मेरी बहिन की शादी थी। हम जहाँ रहते थे, उस के निकट कुम्हारों का मोहल्ला था। जहाँ से शादी के वक्त विवाह की वेदी मे काम आने वाली मटकियाँ लानी थी। उसे हम "बे" बोलते हैं। मैं कुम्हार के पास गया तो उस ने कहा कि घर जाकर दादी से कह दो कि शाम तक "बे" घर पहुँच जायेगी। बीकानेर के पास एक गाँव है नापासर। मेरे सामने वहाँ के एक बड़े सेठ का एक कर्मचारी आया। उस ने कुम्हार से कहा कि विवाह की "बे" मुझे दे दो। तो कुम्हार ने कहा कि मेरे पास एक ही सेट है और वह भी मेरे यजमान का है। तो मुनीम ने कहा कि मैं तुम्हें मुँहमाँगी कीमत

दूंगा, मुझे सेंट चाहिए। कुम्हार ने कहा कि तू ज्यादा पैसा देने वाला आज आया है, मेरा यजमान से पीढ़ियों का सम्बन्ध है। तो ये हमारी आर्थिक व्यवस्था थी जो पर्यावरण से सम्बन्ध रखने वाली व्यवस्था थी। तो यह जीवन की दृष्टि थी। अगर हम सारे जीवन को एक शाश्वत अखण्डता में और परस्पर सम्बद्ध प्रक्रिया में उस प्रक्रिया को परस्पर पूरक दृष्टि से लेते हैं तो एक व्यवस्था बनती हैं। उस का नाम है धर्म। और यह बहुत ही जरूरी है क्योंकि इस के बगैर समाज नहीं बनता। इस के लिए जो विधि और निषेध है वे आवश्यक होते हैं ताकि इस प्रक्रिया पर बाजार हावी नहीं होने पाए।

लेकिन धीरे-धीरे हम देखते हैं कि बाजार हावी हो गया है। और बाजार हावी होने से क्या होता है ? दो पक्ष दो व्यक्ति नहीं रहते। यह सम्बन्ध था दो परिवारों का–दो व्यक्तियों का ही नहीं। और बाजार में सम्बन्ध होता है दो वस्तुओं का। सिक्का एक वस्तु है और दूसरी वस्तु जिन्स है कमोडिटी है। और यह सम्बन्ध गुणात्मक नहीं संख्यात्मक या मात्रात्मक होते हैं। मात्रा होती है उस में सिक्के की और उस के आधार पर माप-तौल और भाव। यह सारा मात्रात्मक या संख्यात्मक बन जाता है। उस दूसरे सम्बन्ध में सारा सम्बन्ध प्रतियोगिता का होगा। क्योंकि देने वाला देखेगा कि मैं ज्यादा लूं और लेने वाला सोचेगा कि कम दूं। बेचने वाला सोचेगा महंगा बेचूं तो लेने वाला देखेगा कि चीज ज्यादा मिल जाय। हर स्तर पर आपस में प्रतियोगिता होगी। इस प्रतियोगिता में व्यापार करने वाले के पास लाभ के नाम से संचय होता है और जैसे-जैसे संचय होता है उस में लोभ की वृत्ति बढ़ती है जो खराब है। नतीजा यह हुआ कि ये केवल यजमानी व्यवस्था ही नहीं उजड़ी बल्कि परिवार उजड़ गए। आज हमारे अपने परिवारों में हरेक चीज खरीद और बिक्री की चीज बनती जा रही है।

एक और उदाहरण देकर मैं अपनी बात पूरी करता हूं। एक आदमी को एक कैशियर रखना था और उस के यहां रोजाना लाख-डेढ़ लाख का व्यापार होता था। एक कैशियर आता है और कहता है कि आठ सौ रुपये माहवार लूंगा। दूसरा कहता है कि बारह सौ रुपये से एक पाई भी कम नहीं लूंगा। और अब वह तलाश करता है कि ये जो बारह सौ रुपये मांग रहा है उस की मान-शोभा कैसी है, चाल-चलन कैसा है, अच्छी संगत है कि नहीं। वह देखता है कि इस आदमी को चाहे सोने के ढेर में डाल दो, वह एक पाई भी छुएगा नहीं। तो वह मानता है, चार सौ रुपये ही तो ज्यादा दिए। बाकी भाई

में चार हजार आठ सौ रूपये ज्यादा गए। लेकिन मेरा लाखों का व्यापार सुरक्षित हो गया। वह उसकी ईमानदारी खरीद लेगा। तो ईमानदारी भी बिक्री की चीज हो गई। आज आप देखते हैं कि बाजार में स्त्री का शरीर भी प्रदर्शन की वस्तु हो गई, खरीद-बिक्री की चीज हो गई। कौनसी ऐसी चीज है जो खरीद बिक्री की नहीं हो गई। यह बाजार की अर्थ-व्यवस्था है और इस ने हमारे सारे पर्यावरण को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अब एक और शेर कहकर अपनी बात समाप्त करता हूँ। अकबर इलाहाबादी कहते हैं—

उश्शाक को भी माले तिजारत समझ लिया
इस अक्ल का मुलाहिजा लिल्लाह कीजिए।
भरते हैं मेरी आह को वो फोनोग्राम मे
कहते हैं फीस लीजिए और आह कीजिऐ।

राजस्थान पर्यावरण सुरक्षा समिति द्वारा जयपुर मे आयोजित सम्मेलन मे दिए गए व्याख्यान का किंचित् संशोधित रूप.

मानवीय मूल्यों का क्रम विकास

भारतीय विचार परम्परा की एक विशेषता मानवीय मूल्यों का एक क्रम-बद्ध विकास है जिस का आरम्भ पार्थिव मूल्य और चरम आध्यात्मिकता में है। वैदिक-साहित्य के मन्त्रों और सूत्रों की अधिकांश प्रार्थनाएँ प्रजा, पशु और धन-समृद्धि की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पाई जाती है। मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता आर्थिक होती है। और इस के बाद काम की गणना की जा सकती है। जीवन-रक्षा और जाति रक्षा प्राणीमात्र के स्वाभाविक धर्म हैं और मनुष्य इस का सहज ही अतिक्रमण नहीं कर सकता। संसार के सभी सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलनों की बुनियाद आर्थिक मूल्यों की मान्यता पर आधारित रहती है। संसार की छोटी-बड़ी क्रांतियाँ इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुई है। आज का समाजवाद या साम्यवाद इसी लक्ष्य को पूरा करने में प्रयत्नशील है। इसके साथ ही अनिवार्य रूप से काम या यौन सम्बन्ध की समस्या जुड़ी हुई है। जीवविज्ञान की दृष्टि से देहधारी प्राणियों का अस्तित्व या जन्म इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक के साहित्य और संस्कृतियों का अवलोकन करें तो काम की समस्या अत्यन्त प्रबल और प्रखर रूप से उभरी हुई दिखाई देती है। जब कभी भी किसी समाज या संस्कृति की व्यवस्था ने इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से इन्कार किया है, तभी वे अपने प्रखर विद्रूप अथवा भयानक कुरूपता और विभीषिका को लेकर प्रकट हुई हैं। कुछ विशेष परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें तात्कालिक घटना-क्रम के परिणाम स्वरूप उक्त समस्याओं का घिनौना स्वरूप देखने को मिलता है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर महासती गान्धारी ने युद्ध में मरे हुए अपने पुत्रों की लाश पर चढ़ कर आम्रफल तोड़ने की चेष्टा की थी। युद्धों के बाद सैनिकों द्वारा मरे हुए मनुष्यों की लाश खा जाने तक के उल्लेख सभ्य और असभ्य दोनों ही तरह की जातियों के इतिहास में पाए जाते हैं। इसी प्रकार मरी हुई स्त्रियों की लाशों के साथ सम्भोग के वर्णन भी प्रथम महायुद्ध के काल में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलते थे।

इस स्तर पर मानवीय आचरण और पाशविक आचरण में कोई अन्तर नही किया जा सकता। परन्तु साथ ही इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि मानवीय मूल्यों का आधार भी वही से आरम्भ होता है।

वर्तमान मे जिसे हम सभ्यता या संस्कृति कहते हैं, उस का स्थान आर्थिक और यौन सम्बन्धी मूल्यो के पश्चात् ही आता है। सास्कृतिक विकास के क्रम में ही मनुष्य ने यह सीखा है कि जो कुछ मिले उसे चाहे जैसे खा लेना ही मनुष्यता नही है। शरीर के धारण और पोषण के लिए अन्न आवश्यक है। लेकिन यह इतने ही से सन्तुष्ट नही होता। अन्न का प्रथम सम्पर्क पेट मे जाने से पहले ही जीभ से होता है और जीभ स्वाद चाहती है रस चाहती है। उसे कोरा अन्न नही चाहिए, उसे व्यजन चाहिए। और अन्न को व्यंजन के रूप मे परिणित करने की प्रक्रिया मे मनुष्य को बहुत चेष्टाएँ करनी पड़ी हैं। उस ने अग्नि का आविष्कार किया, पाचन-क्रिया के पात्रों का निर्माण हुआ, अनेक मसालो का आविष्कार हुआ। मनुष्य स्वाद और रसो की पहचान करने लगा और खाने की आवश्यकता का पूरक अन्न षट्रस व्यंजन का रूप धारण कर बैठा। उपयोगिता के ऊपर रसिकता का महत्त्व स्थापित हुआ। लेकिन अकेली रसना ही से तो रसिकता तृप्त नही हुई। उसे दूसरी इन्द्रियो की माँग भी पूरी करनी पडी। कानो को श्रुतिमधुर शब्द चाहिए। गद्य कर्कश लगता है इसलिए पद्य का आविष्कार हुआ। कोरे छन्द से काम नही चला तो गीत और सगीत का विकास हुआ। कानो के साथ आखो की माँग प्रारम्भ हुई नर के लिए नारी और नारी के लिये नर का शरीर मात्र ही उसे तृप्त नही कर सका। शरीर मे रूप, रंग और गठन भी चाहिए। भूषण और वसन के बगैर वह खिलता नही। सब स्थानो और हर समय मे शरीर सहज-प्राप्य नहीं हो तो चित्र भी चाहिए, मूर्तियाँ भी आवश्यक हैं। प्रत्येक उपयोगिता की वस्तु मे आँखो के लिए आकर्षक आकृति और नयनाभिराम रूप व रंग भी हो तो उसे अच्छा लगता है। हजारो वर्षों से चले आ रहे आविष्कार, शिल्प कला और कौशल इन आवश्यकताओ की पूर्ति किए जा रहे हैं। स्पर्श के लिए उस ने कोमल और गुदगुदी वस्तुओं का निर्माण किया। खुरदरापन स्पर्श के लिए अनुकूल नही है। अनुकूल गन्ध की आवश्यकता प्रकृति प्रदत्त फूलो से लेकर कृत्रिम इत्र के रूप मे पूरी हुई।

रसिकता की पराकाष्ठा इन्द्रियो की मूर्त अनुकूलताओ मे ही रुकी नही रही। गोचर को छोड़कर अगोचर की सामर्थ्य भी मनुष्य मे है। और बिना मूर्त

और स्थूल साधना के भी वह अपनी रसिकता की तृप्ति कर सकता है। इसी आवश्यकता ने काव्य और साहित्य को जन्म दिया। मानसिक कल्पना और वाणी की सहायता से मनुष्य अपने अन्तर्जगत के सपनों में ही तमाम मूर्त अनुकूलताओं को भोगने का सामर्थ्य पैदा कर सका।

रसिकता मानवीय मूल्यों के उत्कर्ष में मध्य का सोपान है। रसिक और विलासी व्यक्तियों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सार्वजनिक जीवन का अंत प्रायः दु:खद होता है। इस मे परिणामदर्शिता नही होती। अनुभव से मनुष्य ने सीखा कि उक्त दोनों मूल्यों के उपभोग और संरक्षण के लिए उस के परिणामों पर विचार करना आवश्यक है। अन्यथा वे उस को कहीं का न रखेंगे और भौतिक मूल्यों से भी उसे वंचित कर देंगे। इसी क्रम में उस में बौद्धिकता का उदय हुआ और उपयोगिता और रसिकता को परिणामों की कसौटी पर कसने के लिए मनुष्य ने संसार की घटनाओं और वस्तुओं में कार्य-कारण की शृंखला का सूत्र खोजकर निकाला। वर्तमान की आवश्यकताओं और समस्याओं के लिए अतीत के अनुभव का लाभ उठाकर भविष्य को सुरक्षित करने का प्रयास आरम्भ हुआ। इसी चेष्टा से मनुष्य के विवेक और विचार का विकास हुआ। विचारों को प्रयोग की कसौटी पर कसा गया। हमारा दर्शन और विज्ञान इसी चेष्टा का परिणाम है।

आज के युग को हम बौद्धिकता का युग कहते हैं। प्रत्येक वस्तु, घटना और विचार तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही स्वीकार किए जाते हैं। परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। और समाज में रहते हुए उसे दूसरे की आवश्यकताओं और अनुकूलताओं का ध्यान रखना पड़ता है। अगर वह बौद्धिकता तक ही रुका रहे तो इस में सन्देह नहीं कि वह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भली-भांति कर सकता है तथा रसिकता का सार्थक प्रदर्शन कर सकता है। परन्तु ये आवश्यकताएँ उस को परिणामदर्शी बुद्धि की सहायता से धूर्त, घातक, असामाजिक या समाज-विरोधी भी बना सकती है। वह अपनी बौद्धिकता का अत्यधिक मूल्यांकन करते हुए केवल स्वार्थी भी हो सकता है। और इस तरह का व्यक्ति सामाजिक विकास के लिए समाज में रहकर स्वयं अपने सम्पूर्ण विकास के लिए भी सफल नहीं होता है। सामाजिक दायित्व की भावना का विकास मानव जाति के इतिहास में जिन व्यक्तियों में उत्कट रूप से हुआ है उन्ही को भले आदमी, सदाचारी, सज्जन या सन्त

आदि विशेषणो से विभूषित किया जाता रहा है जिस तरह बौद्धिकता का आधार मनुष्य के विचार या विवेक करने की शक्ति होती है उसी तरह नैतिकता का आधार मनुष्य के हृदय मे स्थित अनुभूति की शक्ति है। इस मानसिक शक्ति के द्वारा मनुष्य अपने सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्तियो के सुख या दु:ख की अनुभूतियो को अपने सुख या दुःख की अनुभूतियो के सदृश अनुभव करता है। और इसी से प्रेरित होकर जो कार्य करता है वे समाज के लिए हितकर होते हैं। यही शक्ति मनुष्य की सहानुभूति की शक्ति है। जिन व्यक्तियो मे सहानुभूति का विकास नही होता वे चाहे जितने सबल, स्वस्थ रसिक और विचारक क्यो न हो उनके समस्त क्रिया-कलापो की प्रेरक शक्ति एकमात्र उन की स्वय की खुदगर्जी ही है। स्वार्थ से परार्थ की ओर ले जाने वाली समाजिकता की पूरक शक्ति एकमात्र सहानुभूति ही है। सत्य, अहिंसा, संयम, सदाचार या नैतिकता आदि सद्गुण इसी के परिणाम रूप प्रकट होते है। वास्तविक मनुष्य का आरम्भ इसी गुण को लेकर होता है।

सहानुभूति का विकास परिवार, जाति, सम्प्रदाय और देश के सीमाबन्धन को स्वीकार नही करता। उस की निरन्तर वृद्धिगत गति धीरे-धीरे सारी मानवता तक व्याप्त हो जाती है और जिन महापुरुषो को हम अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, उन की सहानुभूति केवल मनुष्य तक ही नही बल्कि प्राणीमात्र के सुख-दु.खो तक विस्तृत हो जाती है।

उपर्युक्त सहानुभूति के विकास की चरम-परिणति तादात्म्य की अनुभूति मे होती है। जिसका उदय होने पर मनुष्य को अपने सम्पर्क मे आने वाले मनुष्यो एव अन्य प्राणियो से ही नही किन्तु वृक्ष,लता, नदी-नाले, निर्झर और आकाश, वायु-मेघ आदि समस्त वातावरण के साथ अपने तादात्म्य अथवा एकता की अनुभूति का बोध होता है। इस अवस्था मे उस को समस्त ससार या प्रकृति मे ओत-प्रोत ज्ञान-अज्ञान सुख-दु.ख, जन्म-मृत्यु आदि समस्त द्वन्द्वो मे समन्वय और सामजस्य की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की अवस्था मे व्यक्ति और वातावरण के तादात्म्य का होश रहते हुए वह जो कुछ बोलता और करता है वह सब के लिए मगलकारी ही होता है।

प्रत्येक मनुष्य मे अर्थ और काम के आर्थिक मूल्यो से आरम्भ करके आध्यात्मिक मूल्य उपलब्ध करने तक के विकास की सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हैं और

मनुष्य की इसी क्षमता को ध्यान में रखकर वेदव्यास ने महाभारत के एक श्लोक में लिखा है कि 'ब्रह्म बहुत रहस्यपूर्ण है। सार बात यह है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।'

आधुनिकता की समस्याएँ

पश्चिम के पुनर्जागरण की चेतना से उत्पन्न हुआ विचारक प्रकृति के निरीक्षण व परीक्षण के सोपानों पर चढ़ कर वैज्ञानिक बन गया। आधुनिक सभ्यता के द्वारा प्रदत्त जो सुविधाएँ हमें प्राप्त है उन का श्रेय वैज्ञानिकों को ही है। विज्ञान ने हमें केवल सुविधाएँ ही नहीं दी; हमारी आधुनिक मान्यताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं, विचारों, आचरणों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं पर भी वैज्ञानिक विचारधारा का जाने अनजाने प्रभाव पड़ा है।

इसी के फलस्वरूप राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद का संघर्ष उत्पन्न हुआ। परस्पर विरोधी संस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। राष्ट्रीय सार्वभौम सत्ता और अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की आवश्यकता पैदा हुई। युद्ध और शान्ति की समस्याएँ सामने आई। अस्त्रनिर्माण और अस्त्र नियन्त्रण पर विचार होने लगा। साम्राज्य बने और विनष्ट हुए। लोकतान्त्रिक और साम्यवादी रक्त क्रांतियाँ हुई। औद्योगीकरण का विस्तार हुआ। विचारों और सामाजिक प्रणालियों की स्थापना रक्षा और विनाश के लिए शीत युद्ध से विश्व का वातावरण विजड़ित हो गया।

जीवन की परम्परागत आस्थाएँ और प्रेरक मूल्य मिटते जा रहे हैं। साहित्य और कला के क्षेत्र में अस्तित्ववाद और अतियथार्थवाद जैसी धारणाएँ पनप रही है। मनुष्य मे एकाकीपन की रिक्तता के कारण आत्मीयता की अनुभूति मन्द हो रही है। विवेक और आत्मनियन्त्रण घट रहा है। दल, वर्ग, भाषा, सम्प्रदाय, रंग और राष्ट्रीय पक्षपात का आग्रह बढ रहा है जिस से निष्पक्ष और अनासक्त न्याय भावना का लोप होने लगा है। स्त्रियों के समान अधिकारों और प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ अबाधप्रवेश के कारण, यौन सम्बन्धों के प्रलोभन की परिस्थितियाँ बढ रही है। उन को मर्यादित करने वाली मान्यताओं के प्रति विद्रोह की आवाज उठ रही है। परिवार और दाम्पत्य जीवन के विघटन के कारण ममता विहीन परिस्थितियों में पलने वाले बालक-बालिकाओं में समाज विरोधी संस्कारों के बीज पनप रहे हैं।

महानगरों के मानवी सम्बन्ध जटिल और दुर्बोध हो रहे हैं। जीवन में नीरसता, असुरक्षा या भय, दुश्चिन्ता, विक्षिप्तता आदि विकार बढ़ रहे हैं। हृदय रोग, रक्तचाप, अनिद्रा आदि व्याधियों का जोर है। उदण्डता, अपराध परायणता और आत्महत्या की सामग्री पढ़ने में पाठकों की रुचि बढ़ने लगी है। इस प्रकार मानव का अवमानवीकरण होता जा रहा है।

यद्यपि वैज्ञानिक विचारधारा का आरम्भ मध्यकालीन धार्मिक आस्थाओं के खण्डन और विज्ञान की व्यावहारिक सफलताओं के साथ हुआ था। परन्तु वैज्ञानिक चिन्तन अपने आप में सर्वथा आस्थाविहीन नहीं था। प्रकृति में सर्वव्यापी नियमानुवर्तिता और घटनाओं की पारस्परिक सम्बद्धता में वैज्ञानिक की श्रद्धा थी। मूलभूत पदार्थ और शक्ति अथवा मैटर और एनर्जी की शृंखलाबद्ध एकता और अखण्डता पर उस को पूर्ण आस्था थी। उस का सब से महत्त्वपूर्ण विश्वास इस मान्यता में था कि प्रकृति की प्रक्रियाओं द्वारा संसार में निरन्तर विकास या प्रगति हो ही रही है। निष्प्राण से प्राण, अचेतना से चेतना, सरलता से जटिलता और नीचे गुण-मूल्यों से ऊँचे गुण-मूल्यों का विकास अटल व अनिवार्य रूप से होना प्रकृति का स्वभाव ही है। प्रकृति के नियमों की निश्चितता और प्रगति की अनिवार्यता पर दृढ़ आस्था से प्रेरित होकर ही विज्ञान से प्रभावित मानव ने वसुन्धरा पर स्वर्ग उतारने की आशा बाँध रखी थी।

यद्यपि आज उस की मृग मरीचिका का भ्रम टूट चुका है फिर भी वह यह मानने को तैयार नहीं है कि आज संसार के सामने मानव मूल्यों के संकट की जो विभीषिका उपस्थित है उस का कारण विज्ञान या वैज्ञानिक है। उस का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि धरती पर मनुष्य को सुख और शान्ति उपलब्ध करनी है, तो उस के सामने वैज्ञानिक चिन्तन और व्यवहार के सिवाय और कोई सच्चा मार्ग नहीं है। फिर भी जो संकट प्रत्यक्ष रूप से दिखाई दे रहा है उस को समझना आवश्यक है। वैज्ञानिक को अपनी उत्पन्न की हुई समस्याओं का मूल अपने चिन्तन में ही तलाश करना होगा।

पिछले कुछ दशकों में केवल वैज्ञानिक आविष्कारों और उन के प्रयोगों में ही आशातीत उन्नति नहीं हुई बल्कि विज्ञान के सैद्धान्तिक चिन्तन में भी मौलिक परिवर्तन हुए हैं। पुरानी धारणाएँ आमूलचूल बदल गई हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के दार्शनिक निष्कर्ष सर्वथा विलक्षण हैं। आज की प्रकृति की

प्रक्रियाओं के मूल में सुनिश्चितता का नहीं बल्कि काम चलाऊ सम्भावना का नियम माना जाता है। सम्बद्धता का स्थान असम्बद्धता ने ले लिया है।

पहले यह धारणा थी कि प्रकृति निश्चित नियमानुवर्ती व्यवस्थित प्रक्रियाओं का प्रवाह है और मनुष्य क्योंकि प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है इसलिए प्रकृति की व्यवस्था और निश्चित नियमों का ज्ञान वैज्ञानिक मनुष्य की राग रहित निष्पक्ष बुद्धि में यथावत् रूप में प्रतिबिम्बित और प्रतिफलित होता है। प्रकृति की प्रक्रिया पद्धति और वैज्ञानिक बुद्धि की तटस्थ तर्क पद्धति एक ही वस्तु-सत्य के दो प्रकार के भेद हैं। परन्तु आधुनिक मान्यताओं के अनुसार प्रकृति के व्यक्त स्तर पर दिखाई देने वाली व्यवस्था का अव्यक्त मूलाधार पूर्ण अव्यवस्थित और अप्रकट से प्रकट होने वाली घटनाओं का क्रम भी सर्वथा अनिश्चित है। यही दशा मानव बुद्धि की है। मन के व्यक्त अथवा चेतन स्तर पर व्यवस्थित और निश्चित प्रतीत होने वाले सफलबुद्धि व्यापारों का अव्यक्त और अचेतन मानसिक मूलाधार सर्वथा अव्यवस्थित है। मन के अव्यक्त अचेतन आधार से चेतन स्तर में प्रादुर्भूत होने वाली घटनाओं का कोई भी सुनिश्चित क्रम नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के यह निष्कर्ष प्राचीन वेदान्त के माया तत्त्व से मिलते जुलते हैं। वेदान्त के अनुसार जगत और जीवन माया तत्त्व के परिणाम हैं। माया एक ऐसा तत्त्व या शक्ति है जो सत्य और असत्य दोनों से विलक्षण है; वह अचिन्त्य, अवर्णनीय और अनिश्चित परिणाम उत्पन्न करने वाली है तथा किसी भी निश्चित नियम की पकड़ में नहीं आती। आधुनिक विज्ञान की मूल शक्ति का स्वरूप लगभग यही है। माया शक्ति मनुष्य की चेतना में कुण्ठा और विक्षेप उत्पन्न करती है। एक आधुनिक मानव इसी के अनिश्चित प्रभाव का शिकार है।

आधुनिक युग अनिश्चितता, अव्यवस्था, कुण्ठा और विक्षिप्तता का युग है। इसकी दिशा विघटन की ओर दशा आस्थाहीन भावशून्य गतिरोध की है। यह सांस्कृतिक मूल्यों के संकट का समय है। परन्तु आज का मानव अपनी दशा के प्रति विभ्रान्त और समस्याओं के प्रति जागरूक भी है। यह युग समस्याओं के बोध का है, समाधान का नहीं। समाधान के लिए नयी आस्था की तलाश हो रही है। अधकचरे समाधान वैज्ञानिक को स्वीकार नहीं। तथापि प्रश्न तो पूछे ही जा सकते हैं और आज का मानव पूछना चाहता है कि:—

क्या प्रकृति की प्रक्रियाएँ अनिश्चित और अव्यवस्थित होते हुए भी उन का कोई स्थायी और निश्चित मूलाधार है या वे सर्वथा निराधार है ?

क्या मानव जीवन और जगत् की प्रक्रियाओ का कोई अर्थ या प्रयोजन है या वे निष्प्रयोजन और व्यर्थ है ?

क्या मानव जाति के इतिहास की गति लक्ष्यहीन है या उस का कोई निश्चित गन्तव्य है ?

यदि जीवन और जगत् का कोई आधार प्रयोजन और लक्ष्य है तो क्या मानव उसे जान सकता है, अनुभव कर सकता है या उपलब्ध कर सकता है ?
इन प्रश्नो के उत्तर मे ही समस्याओ के समाधान की आशा निहित है परन्तु वैज्ञानिक इन का उत्तर देना नही चाहता। यदि विज्ञान इन का उत्तर देता है तो वह तत्त्वज्ञान बन जाता है। उस अवस्था मे तत्त्वज्ञान और विज्ञान की विभाजक रेखा मिट जाती है। समस्याओ के अन्तिम समाधान करने वाले तत्त्वज्ञान की तुलना एक ऐसी विचित्र पुस्तक से की जा सकती है जिस का आदि पृष्ठ उपलब्ध नही हुआ और अन्तिम पृष्ठ अभी तक लेखबद्ध नही हो सका। जब अन्तिम पृष्ठ लिखने का समय आयेगा तब न उस के लिखने वाला रहेगा न पढनेवाला। तत्त्वज्ञान अभी केवल मध्य के पृष्ठ ही लिख रहा है। विज्ञान की दृष्टि तथ्यमूलक और उपयोगितावादी है। तत्त्वज्ञान का काम जीवन और जगत् सम्बन्धी ज्ञान के निष्कर्षों को व्यवस्थित रूप देना है। जीवन के मूल अस्तित्व अर्थ और प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं मे पैठने का काम अध्यात्म का ही है। परन्तु अध्यात्म केवल इंद्रियगोचर अनुभव और तर्क संगत निष्कर्षों के सम्बन्ध मे अस्पष्ट अन्धविश्वासों का पुंज नहीं है। जीवन और जगत् से परे और उस मे ओतप्रोत चैतन्य आधार की अगोचर एवं तर्कातीत अनुभूति के बोध की आस्था पर ही अध्यात्म की व्यास पीठ टिकी हुई है। अध्यात्म ही विज्ञान और तत्त्वज्ञान की आधुनिकता के समाधान पर प्रकाश डाल सकता है। परन्तु वह प्रकाश आज के मनुष्य को परम्परागम्मत पुरानी पोथियो मे नही बल्कि स्वयं अपनी अनुभूतियो के मूल केन्द्र स्वचित्त की चेतना मे ही मिलेगा। अध्यात्मज्ञान 'इल्मे-सफीना' (पोथियों का ज्ञान) नही है, वह 'इल्मे-सीना' (हृदय का ज्ञान) है। आधुनिकता की समस्याओ मे ग्रस्त मानव को स्वचैतन्य की पोथी मे ही इस का समाधान मिलेगा।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ।।

महाभारत उद्योगपर्व 35/58

वह सभा सभा नही, जहाँ वृद्ध न हो,
जो धर्म की बात नही कहते, वे वृद्ध ही नही ।
वह धर्म ही नही जिसमें सत्य न हो,
वह सत्य ही नही, जिस में छल मिला हो ।।



डॉ छगन मोहता

- वि सं. 1964, भाद्रपद कृष्णा 12 को बीकानेर में जन्म
- औपचारिक शिक्षा प्राथमिक स्तर तक भी पूर्ण नहीं की जा सकी।
- पिता श्री गोविन्दलालजी ने बालक छगनलाल की अदम्य जिज्ञासा-वृत्ति को पहचान कर एक रूढ़िबद्ध वातावरण में भी 'निरौपचारिक रीति से जब, जहाँ से, जिस से व जिस तरह से जो चाहे वह सीखने और पढ़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता' दी। दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अन्य विषयों का स्वतन्त्र अध्ययन-मनन।
- प्रारम्भ से ही प्रजामण्डल के कार्यों के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों में सक्रिय भागीदारी। महिला शिक्षा एवं प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन के प्रवर्तन में मुख्य भूमिका भारतीय बौद्धिक एवं साहित्यिक परम्परा के निरन्तर अन्वेषण में रत।